शाक्तधर्म तंत्र ६८

(81)

शाक्त-धर्म

श्री देवीदत्त शुक्ल

T/169

साधनमाला—अष्टम वर्ष—मणि २

शाक्तधर्म क्या है?

लेखक

पण्डित देवीदत्त शुक्ल

MOTILAL BANARSIDAS
BUNGALOW ROAD,
DELHI-7

प्रकाशक

कल्याण मन्दिर, अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

प्रथम संस्करण] सम्वत् २०२५ वि० [मूल्य ३), सजिल्द ३) ५०

विषय-प्रवेश

१—समर्पण	तीन
२—भूमिका	चार
३—शक्ति और शाक्त	१-४०
४—शाक्तधर्म की रूपरेखा	४१-५८
आधुनिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	४१
शाक्तधर्म का प्रचार	४५
शाक्तधर्म और वर्णाश्रम धर्म	५०
शाक्त का दृष्टिकोण	५२
शाक्तधर्म का सन्देश	५४
५—शाक्तधर्म का निरूपण	५६-६५
वीर की उपासना	५६
वैज्ञानिक साधना-क्रम	६०
पञ्च-शुद्धियाँ	६२
मद्य-मांसादि की प्रामाणिकता	६३
६—सनातन शाक्तधर्म	६६-७६
७—साधना में सिद्धि	७७-८२
८—शाक्तधर्म की मूल भावना	८३-८४

❋ समर्पण ❋

[हनूमानगढ़ी (रामगढ़), दरभङ्गा-निवासी]

श्रीमान् ❋ श्री स्वामी
आद्यानन्द जी ❋ आत्मानन्द जी

आप दोनों सहोदर भ्राताओं की प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहायता के फलस्वरूप ही इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। अतः यह पुस्तक आप ही दोनों महानुभावों को सादर समर्पित है।

Dr. B. N. Pandit, Shastri
M. A. M. O.
Ph. D. in Kashmir Saivism

—प्रकाशक

भूमिका

'शाक्तधर्म' के सम्बन्ध में यद्यपि इधर काफी साहित्य हिन्दी में कल्याण-मन्दिर द्वारा प्रकाशित हो चुका है, तथापि उसके सम्बन्ध में लोगों में अत्यधिक भ्रान्ति-पूर्ण भावनाएँ फैली हुई हैं। इसका मूल कारण यह रहा है कि एक ओर तो विरोधी मतवालों ने उसके विरुद्ध निरन्तर द्वेष भरा प्रचार किया है, जिसके उत्तर में शाक्तधर्मावलम्बियों ने कभी कुछ नहीं कहा। दूसरी ओर शाक्तधर्म जिस तन्त्रशास्त्र को अपना प्रेरणा-स्रोत मानता है, उसका लोप ही हो गया उसके जो ग्रन्थ बचे भी, वे खण्डित और अपूर्ण हो रह गए ऐसी दशा में विरोधियों को उसके विरुद्ध खुलकर कहने का अवसर मिल गया।

कल्याण-मन्दिर द्वारा न केवल लुप्तप्राय तन्त्रशास्त्र के उद्धा का ही प्रयास प्रारम्भ किया गया, किन्तु लोकभाषा में उस ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं, जिनसे शाक्तधर्म का वास्तवि स्वरूप लोगों के सामने आ सके।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रद्धेय शुक्ल जी के उन लेखों का संग्र किया गया है, जिनसे शाक्तधर्म पर प्रामाणिक ढंग से प्रका पड़ता है। पहला लेख स्वर्गीय (जस्टिस सर) जॉन वुडर (आँथर एवेलॉन) के लेख का अनुवाद है और बाद के अन लेख पूज्य शुक्ल जी के लिखे हुए मौलिक लेख हैं। इस प्रका शाक्तधर्म के सम्बन्ध में योरपीय और भारतीय दो दृष्टिकोण पाठकों को विदित हो सकेंगे।

—प्रकाश

शक्ति और शाक्त*

[१]

मेरी समझ में शाक्त-मत या शक्ति-पूजा अपने कुछ प्रधान स्वरूपों में संसार के प्राचीनतम तथा अत्यधिक प्रचलित धर्मों में से एक है। यद्यपि यह बात बहुत ठीक है कि शाक्त-धर्म एक प्राचीन धर्म है, तो भी उसके वर्तमान स्वरूप में बहुत कुछ नूतनता आ गई है। समयानुसार उसका भी विकास हुआ और उसमें आधुनिक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश हो गया। इस स्थान में इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि पाश्चात्य देशों में, विशेषतया अमरीका और इंग्लैंड में, एक नवीन प्रकार के साहित्य की रचना हो रही है। इस साहित्य का प्रधान उद्देश्य अलौकिक शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना है। इसके सिद्धान्त शक्ति-साधना से बहुत कुछ मेल खाते हैं। उस साहित्य में ऐसी भी पुस्तकें हैं, जिनमें वशीकरण जैसे प्रयोगों की सिद्धि के उपाय बताए गये हैं। यद्यपि इनमें बहुत कुछ धूर्तता का भी समावेश है, तो भी ये लगभग उसी ढङ्ग की पुस्तकें हैं, जैसे तान्त्रिक शावर।

अनेक वर्ष हुए 'एडवर्ड सेलन' ने मद्रास प्रान्त की सिविल सर्विस के प्राच्यविद् विद्वानों की सहायता से तान्त्रिक साहित्य के अनुसन्धान का प्रयत्न किया था। कुछ कारणों से उन्होंने तंत्रों का सुदृष्टि से नहीं विचार किया। परन्तु उन्होंने शाक्तों की तुलना यूनानी 'टेलिस्टिका' या 'डीनामीका' से, शक्ति-

* स्वर्गीय सर जान वुडरफ़ के एक लेख के आधार पर

पूजा की 'डैनीसियस' की गुह्य बातों से और शक्ति-शोधन की उस संस्कार से की, जो 'हनकर बोली' के 'एएटीक ग्रीक वेसेज' नामक ग्रन्थ में वर्णित है। तदुपरान्त यहूदी तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थकारों की पुस्तकों के अनेक स्थानों में शाक्त-धर्म की क्रियाओं के उल्लेख की सूचना देकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह बात स्पष्ट है कि इस समय भी संसार का मन्त्र-विद्या का एक बहुत प्राचीनतर भाग शाक्त-धर्म के रूप में भारत में विद्यमान है। किसी खास परिणाम को चाहे जो महत्त्व दिया जाय, 'एडवड सेलन' का निर्णय साधारणतया बहुत ठीक है, क्योंकि जब हम इस उपासना के भूतकालीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तब हम देखते हैं कि यह एक अत्यन्त प्राचीन उपासना है। सभी देशों में सर्वशक्तिशालिनी शक्ति की पूजा भिन्न-भिन्न नामों से स्त्री के रूप में होती थी। यूनान में 'सिवेली' और 'अफ्रोडाइट' के नाम से, बैबिलान में 'मिलिट्टा' के नाम से, मिस्र में 'इश' 'ओसिया' आदि के नामों से और अफ्रीका में 'सलम्बो' के नाम से उसी मूल प्रकृति की पूजा होती थी। असीरियावाले 'सकथ बेनथ' और रोमन लोग 'जूनो' तथा बौद्ध लोग 'तारा' के नाम से उसकी अर्चना करते थे। सारांश यह कि आदि-शक्ति की उपासना अतीत काल से लेकर वर्तमान समय तक भिन्न-भिन्न नामों से सारे भूमण्डल पर सदा होती रही है।

इतने पर भी ऐसे लोग मिलते ही हैं, जो कहते हैं कि शाक्त-धर्म आधुनिक है। उनके इस कथन को अस्वीकार करते समय हम यह नहीं कहते कि इस धर्म में परिवर्तन नहीं किये गये हैं या इसका विकास नहीं हुआ है। जैसे-जैसे मानव-स्वभाव में परिवर्तन होता है, वैसे ही वैसे उसके धार्मिक भावों

में भी अन्तर होता है। शाक्तमत में तथा उसके प्राचीन स्वरूप में वही भेद है, जो दीक्षित तथा अदीक्षित के बीच में वर्तमान है। दीक्षित उसे कहते हैं, जिसकी शक्ति प्रबुद्ध होती है और अदीक्षित को पशु कहते हैं। प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति माता का रूप और आध्यात्मिक रूप अर्थात् स्वयं जननी, ये दोनों एक ही वस्तु हैं। परन्तु इन दोनों का एकत्व केवल दीक्षित ही जान सकता है। वह अपने आपका बोध चैतन्य रूप में करता है, चाहे वह मुक्त दशा में हो और चाहे अमुक्त दशा में। तान्त्रिक साधना का यह एक आवश्यक सिद्धान्त है कि साधक को अपना लक्ष्य प्रकृति के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। उसे प्राप्त करने के लिए साधक को प्रकृति का त्याग करने का आदेश नहीं है। उसके कुछ उपयोगों के सम्बन्ध में चाहे जो कुछ कहा गया हो, किन्तु उसमें एक ही सत्य सिद्धान्त अन्तर्निहित है। शक्ति-पूजा के गुप्त रहस्यों के सम्बन्ध में जो प्रमाण मिलते हैं, वे अपरिमित हैं। इस धर्म की साधारण बाह्य पूजा एवं उसकी अन्तरङ्ग शिक्षाओं के रूप बहुत प्राचीन हैं। इस सम्बन्ध में भारत के बाहर तान्त्रिक शिक्षा तथा क्रिया के अस्तित्व का जो विचित्र उदाहरण मिलता है, वह आगे दिया जाता है। अमरीका के इण्डियनों के 'पोपुलवु' नाम के माया-वादात्मक धर्म-ग्रंथ में 'हुरकन' अर्थात् बिजली का जो उल्लेख है, वह तान्त्रिकों की कुण्डलनी-शक्ति से मिलता-जुलता है। यही क्यों, सुषुम्ना नाडी तथा ईडा और पिङ्गला एवं अन्यान्य शरीरस्थ चक्रों का भी निर्देश उनके उस धर्मग्रन्थ में विद्यमान है।

सम्भवतः जिन मुख्य कारणों से तान्त्रिक ग्रन्थों का प्रमाण कुछ लोगों को स्वीकृत नहीं, उनमें से एक पञ्चतत्त्व-क्रिया का

उपयोग है, जिसे कुछ तान्त्रिकों ने अङ्गीकार किया है और सम्भवत: इसी कारण यह धर्म आधुनिक समझा जाता है परन्तु इसके विपरीत मद्य, मांस इत्यादि का प्रचलन स्वयं अत्यन्त प्राचीन है। इन क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ लोग ऐसी बातें करते हैं, मानो इन वस्तुओं का प्रचलन यहाँ बिलकुल ही नया हो। यही नहीं, वे इन्हें एक-मात्र तान्त्रिकों की गढ़न्त और प्राचीन समय के उद्देश्यों तथा व्यवहारों के सर्वथा विपरीत बतलाते हैं। यदि इस विषय का अनुसन्धान किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि जो उपासक इस प्रकार की क्रियाएँ करते हैं, वे बहुत ही प्राचीन-काल की प्रथाओं का ही अवलम्बन किये हैं और ये प्रथाएँ अत्यन्त प्राचीन-काल में वैदिकाचार के समान ही प्रचलित रही हैं, जो जैन तथा बौद्ध-धर्म के प्रबल होने पर सम्भवत: बाद को त्याग दी गईं। मैं इन प्रथाओं को 'समान' इसलिये कहता हूँ कि वे वैदिकाचार के अन्तर्भुत नहीं थीं। इन दोनों में भिन्नता रही है। इस तरह इस पञ्च-तत्व-उपासना में वैदिक ढंग से मद्य, मांस आदि के उपयोग में साम्य है ही। अस्तु,

वैदिक कर्मकाण्ड में मद्य के स्थान में सोम का उपयोग होता था। मांसाष्टक श्राद्ध में मांस का, अष्टक श्राद्ध तथा प्रेत श्राद्ध में मछली और वामदेव्य व्रत एवं महा व्रत में मैथुन का प्रचलन था। वैदिक कर्मकाण्ड के ये विधान सर्व-स्वीकृत वैदिक ग्रन्थों के प्रमाणों से भी समर्थित हैं। अथर्ववेद के सौभाग्य-खण्ड में ही इनका उल्लेख नहीं है, जिससे, लोग कहते हैं, कालिकोपनिषद् तथा दूसरे तान्त्रिक उपनिषद् निकले हैं। प्रसिद्ध विद्वान् रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी ने अपने 'विचित्र प्रसङ्ग' में बतलाया है कि पञ्चतत्वों का 'मुद्रा' सोम तथा दूसरे यागों

के 'पुरोडाश' से मेल खाता है। मद्य तथा किसी किसी स्थिति में मांस के वर्जन का वर्तमान नियम बौद्ध-धर्म के कारण हुआ है। इन प्राचीन प्रथाओं का पालन केवल ये तान्त्रिक लोग ही (अपने कर्म-कांड में) करते हैं। यह सच है कि उषन: की संहिता में लिखा है—मद्य न तो पीना चाहिए और न देना या ग्रहण ही करना चाहिए (मद्यमपेयम् अदेयम् अग्राह्यम्), तो भी मनु महाराज लिखते हैं—न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये …। यद्यपि उन्होंने अपने इस आदेश में यह जोड़ दिया है जैसा कि अनेक लोग करते हैं कि 'निवृत्तिस्तु महाफला।' तान्त्रिक विधान भी इस बात की आज्ञा नहीं देता कि वृथा पान किया जाय।

दो भिन्न बातें एक में मिला देना एक साधारण भ्रम है। उदाहरण के लिए, मत, प्रथा और शास्त्रीय विधान आधुनिक हो सकते हैं, पर जिन बातों की वे चर्चा करते हैं, वे सम्भव है, अत्यन्त प्राचीन हों। जब मैं शाक्त-धर्म की अत्यन्त प्राचीनता की बात कहता हूँ तब मेरा केवल यह मतलब नहीं है कि ये ग्रन्थ भी उतने ही प्राचीन हैं, जो तन्त्र कहलाते हैं। तन्त्र-ग्रन्थ साधारणतया सरल संस्कृत में लिखे गये हैं और इस उद्देश्य से लिखे गये हैं कि सर्व-साधारण को उनका आशय समझने में सुगमता हो। इन ग्रन्थों के लिखने में लेखन-चातुर्य्य नहीं प्रकट किया गया है। इनकी यही सरलता इनकी प्राचीनता का भी द्योतक है। इसके साथ ही इन ग्रन्थों की संस्कृत लौकिक है, आर्ष नहीं है। इसके सिवा इनमें ऐसे विवरण भी हैं, जिनसे इनका समय निर्दिष्ट हो जाता है। मैं यह बात इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में नहीं कहता, किन्तु मेरा मतलब उन वचनों या अंशों से है, जिनका इनमें उल्लेख है। जिस धर्म की इनमें चर्चा है या कम से कम उस

धर्म के प्राथमिक स्वरूप का अस्तित्व इनके कुलों-द्वारा लेखबद्ध किये जाने के बहुत पहले ही रहा होगा। कुलों को वे परम्पर से उसी तरह उपलब्ध हुए होंगे और उनको पुस्तक का रूप मिला होगा जैसे कि वैदिक गोत्रों ने किया है। अन्यान्य बात के सदृश इस प्रकार के विचार तथा प्रथाएँ समय की गति के अनुसार विकसित होती रही हैं। यह भी एक प्रकार क सिद्धान्त ही है। ऐसा सदा से ही होता आया है।

[२]

तन्त्र-ग्रन्थों की एक विशाल राशि सदा के लिये लुप्त हो ग है। जो ग्रन्थ बच रहे हैं, उनमें भी सब उपलब्ध नहीं। ज उपलब्ध हैं, वे अधूरे हैं। यदि दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा वे पीछे से प्रकट हुए हैं तो भी भारतीय सिद्धान्त के अनुसार उनके प्रामाण्य में किसी प्रकार के सन्देह का प्रभाव नहीं पड़ सकता इससे किसी धर्म-ग्रन्थ का प्रमाण उसकी रचना के काल प नहीं निर्भर करता। तब यह प्रश्न होता है कि जो बात आज से सौ वर्ष पहले कही गई है, उसकी अपेक्षा वह बात अधिक सत् क्यों मानी जाय, जो उससे १००० वर्ष पहले कही गई हो लोगों की यह धारणा है कि आगम की शिक्षाएँ सदा अस्तित्व में रहती हैं, परन्तु विशेष विशेष तान्त्रिक ग्रन्थ समयानुसा प्रकट और तिरोहित होते रहे हैं। किसी तन्त्र-ग्रन्थ के हाल प्रकट होने के कारण कोई उसका विरोध नहीं करता। जब य कहा जाता है कि शिव ने तन्त्र कहे या ब्रह्मा ने प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ ब्रह्म-संहिता की रचना की, तब उसका यह मतलब नहीं कि शिव और ब्रह्मा ने कलम लेकर भोजपत्रों या ताड़पत्रों प उन्हें लिख डाला। परन्तु वास्तविक बात यह है कि दैवी आत्म ज्ञान की स्फूर्ति से प्रेरित होकर किसी व्यक्ति-विशेष ने अविनाश

सत्य-सम्बन्धी उपदेश को लिख डाला या उसकी शिक्षा दी। इसी को लोगों ने ये तथा ऐसे ही दूसरे नाम दे दिये। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि उस ज्ञानी पुरुष के पास कोई बैठा था और वह उसके कान में कहता जाता था। किन्तु बात यह है कि उसने स्वयं उस सत्य को अपने आत्मज्ञान-द्वारा साक्षात्कार किया, जिसे उसने मानव-जाति की कल्याण-दृष्टि से पुस्तक-बद्ध करके प्रचलित किया।

जो कुछ इस संसार में किया गया है, उसे मनुष्य ने ही किया है। ईश्वर उसी की सहायता करता है, जो अपनी सहायता स्वयं कर लेता है, इस सर्व-स्वीकृत लोकोक्ति की अपेक्षा अधिक सत्य का भी अस्तित्व है। ईश्वरीय प्रेरणा कभी बन्द नहीं होती। लोग पूछ सकते हैं कि इस कथन की सत्यता का प्रमाण क्या है। इसका उत्तर यह है कि तुम उसके परिणाम से जान सकते हो। शास्त्र का प्रमाण इस प्रश्न-द्वारा निश्चित किया जाता है कि क्या उसके विधानों-द्वारा सिद्धि मिल सकती है। यह भी क्या कोई प्रमाण है कि उसमें 'शिवोवाच' लिखा है! इस बात की परीक्षा आयुर्वेद से हो सकती है। वही औषध ठीक है, जो रोग का निवारण कर सकती है।

भारतीय परीक्षा अनुभव पर निर्भर है। अद्वैतवाद की सत्यता समाधि-द्वारा ही जाँची जा सकती है। कल्पों का अस्तित्व कैसे जाना गया है? कहा जाता है कि वे बुद्ध को याद रहे हैं। तदनुसार ही यह लिखा गया है कि बुद्ध को ९१ कल्पों की स्मृति हुई थी। पुनर्जन्म के पक्ष में दलीलें दी जाती हैं। परन्तु वास्तविक प्रमाण तो वही है, जो साधारण दैनिक जीवन के अनुभव द्वारा सिद्ध होता है, जिनका निर्णय पूर्व-जीवन के अस्तित्व के सिद्धान्त पर ही किया जा सकता है तथा विशिष्ट व्यक्तियों

ने आत्मोन्नति की है और उस शक्ति के द्वारा जिनको अपने पूर्व जन्मों की स्मृति हो जाय। इस सम्बन्ध में यही दो वास्तविक प्रमाण हो सकते हैं।

समय बिलकुल निरर्थक ही नहीं होता। क्योंकि जिस बात को जानने के लिये लोग शास्त्रों के पृष्ठ उलटते हैं, वह यह है कि उनमें उक्त बात स्वीकृत हुई है या उस सम्बन्धमें प्रामाणिक ग्रन्थों के, समथक वचन उद्धृत हुये हैं या नहीं। परन्तु सत्यता की इस प्रकार का परख केवल बहुत अधिक समय बीत जाने पर ही निर्धारित होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी बात के हाल में प्रकट होने से इस प्रकार की परीक्षा से उसकी जाँच करना सम्भव नहीं है, अतएव उक्त बात अनर्गल है। भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार इसी ढङ्ग से समय और प्रमाण के प्रश्न का विचार किया जाता है।

[३]

यदि सनातनधर्म कहलानेवाले हिन्दू-धर्म (उसकी उत्पत्ति चाहे जैसी हो) की विस्तृत जाँच-पड़ताल की जाय, तो निम्नलिखित परिणाम निकलेंगे। वेदान्त (उपनिषद् के अर्थ में, क्योंकि उसकी शिक्षाओं का आधार उपनिषद् ही है, यद्यपि उनका अर्थ विभिन्न प्रकार से किया जाता है) और वे बहुसंख्यक आचार, जिनके द्वारा वेदान्त की शिक्षाएँ व्यवहारगत की जाती हैं। इन दोनों को हमें सावधानी से पहचानना चाहिये। वेदान्त का 'सोऽहं' तान्त्रिकों के 'हंसः' से मिलता है। एक ओर 'हंकार' है दूसरी ओर 'सकार' है। इन दोनों को निकाल देने से केवल काम-कला का चिह्न बच जाता है। आचार उन साधनों को प्रस्तुत करता है, जिनके

द्वारा विशिष्ट साधक 'सोऽहं' को व्यवहारगत कर लेता है। 'साधना' शब्द 'साध्' धातु से बनता है और यह धातु सिद्धि अर्थ में प्रयुक्त होती है। किस बात की सिद्धि के लिये साधना की जाती है ? इसका उत्तर यह है कि इस जड़ जगत् की प्रत्येक योनि से मुक्त हो जाने के लिए। इन योनियों के अस्तित्व का कारण चित् शक्ति को अपने आप समोप कर लेना है और इसी कारण वास्तविकता अन्धकार में छिप जाती है. जिसका निराकरण 'सोऽहं' या 'शिवोऽहम्' से होता है। लोग अपने आपको इन जड़-रूपों से मुक्त क्यों करते हैं ? क्योंकि कहा जाता है कि परम सुख की प्राप्ति उसी मार्ग में है। 'सोऽहम्' का यही वास्तविक अनुभव है और वेद ही ज्ञान (विद्) या सच्चे आध्यात्मिक अनुभव का असली रूप है, क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से किसी वस्तु को यथार्थ में जानना स्वयं वही वस्तु हो जाता है। यह वेद या अनुभव केवल महद् आकाश का ध्यान करने से ही नहीं प्राप्त हो जाता है, उसे अपना स्वरूप भी बदलना चाहिए, अर्थात ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे वह उसका अनुभव प्राप्त कर सके। अतएव तन्त्रों का प्रधान लक्ष्य कर्म है।

तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए कौन से कर्म का ग्रहण करना चाहिए। तन्त्र-शब्द की व्युत्पत्ति 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्' है। इसके अनुसार तन्त्र शब्द 'तन्' धातु से बनता है। अतएव तन्त्र उस शास्त्र को कहते हैं, जो ज्ञान का प्रचार करता है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द ध्यान देने योग्य है। ये शास्त्र जिन क्रियाओं का निर्देश करते हैं, उनसे वेदान्तीय ज्ञान का प्रचार होता है। यहीं हमें वह विभिन्नता-दृष्टि देख पड़ती है, जिससे वे लोग संशय

में पड़ जाते हैं, जो भारत के धार्मिक जीवन के मूल तक नहीं पहुंच सके हैं। वास्तव में अन्तिम ध्येय एक है। उस ध्येय तक पहुंचने के लिए जो साधन हैं, उनमें ज्ञान, योग्यता और स्वभाव के अनुसार अवश्य ही विभिन्नता होगी। परन्तु यहाँ हम उन साधनों को दो भागों में बाँट सकते हैं अर्थात् वैदिक और तान्त्रिक। एक भाग और भी किया जा सकता है। इसे हम मिश्र कह सकते हैं, क्योंकि हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत एक ऐसा समुदाय है, जिसके कुछ आचार वैदिक हैं तो कुछ तान्त्रिक हैं, अर्थात् उनके कर्मकाण्ड में उन दोनों आचारों का सम्मिश्रण है।

स्वयं 'तन्त्र' शब्द साधारणतया शास्त्र के अर्थ में लिया जाता है। उससे किसी विशेष धार्मिक ग्रन्थ का निर्देश नहीं होता। परन्तु जब हम उसे धार्मिक ग्रन्थ के रूप में ग्रहण करते हैं, तब हम उसे कई प्रकार के उपासकों के धर्म-ग्रन्थ के रूप में पाते हैं। इन उपासकों का आचार तथा इनकी उपासना विभिन्न होती है। इस तरह हम शैव, वैष्णव और शाक्त एवं इनके भी उपभेद पाते हैं। जैसे शैवों में शैव सिद्धान्त के विशिष्टाद्वैत शैव, काश्मीरीय अद्वैतवादी शैव, पाशुपत और इसी प्रकार के दूसरे उपभेद भी हैं। इन लोगों के तन्त्र अलग अलग हैं। यदि तान्त्रिक शब्द का अर्थ तन्त्र-शास्त्र का अनुयायी लिया जाय, तो यह एक अनिश्चित ही अर्थ माना जायगा। जिस आदमी के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग हो, वह पञ्च देवताओं में से किसी एक देवता का उपासक हो सकता है तथा विभिन्न सम्प्रदायों में से किसी एक के भी अन्तर्गत रहता हुआ उन्हीं की निर्दिष्ट उपासना तथा क्रिया से अपने इष्ट-देवता की आराधना कर सकता है।

इस तरह 'तन्त्र' शब्द के अर्थों में बड़ा गड़बड़ होता है। परन्तु जो बात चल गई, सो चल गई। उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता। जहाँ तक मैं जानता हूँ, जो लोग तान्त्रिक कहलाते हैं वे अपने को शाक्त, शैव इत्यादि नामों से अभिहित करते हैं। वे चाहे जिस सम्प्रदाय के हों, पर अपने को तान्त्रिक नहीं कहते।

इसके सिवा 'तन्त्र' शब्द का उपयोग एक जाति विशेष के धर्म-ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होता है, जिन्हें तान्त्रिक मानते हैं। उनके दूसरे भी ग्रन्थ होते हैं, जो निगम, आगम, यामल, डामर, उड्डीश, कक्षपुट इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। जहाँ तक मुझे मालूम है, इन धर्म-ग्रन्थों को माननेवाले इन नामों से अभिहित नहीं होते। हाँ, आगमान्त शैव आगमवादी तथा आगमान्त अवश्य कहलाते हैं। यदि हम धर्म-ग्रन्थों को केवल एक नाम दें और उन्हें तन्त्र या आगम कहें, तो संक्षेप में, वे चार भागों में बँट जाते हैं जैसे वेद (संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्), आगम या तन्त्र-शास्त्र, पुराण और स्मृति। इस विभाग में आगम या तन्त्रशास्त्र का प्रमाण आधुनिक काल में नहीं माना जाता है। परन्तु प्रामाणिक उल्लेख दिखला कर यह मत भ्रामक सिद्ध किया जा सकता है। मनु का प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट लिखता है—श्रुति दो प्रकार की है। एक वैदिक और दूसरी तान्त्रिक (वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिः कीर्तिता)। इसका सङ्केत आगम के मन्त्र-भाग से है। वैष्णव ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में भगवान कहते हैं—मेरी उपासना तीन प्रकार की है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। और कलियुग में केशव की आराधना तन्त्रों के अनुसार करनी चाहिये। देवी-भागवत में तन्त्र-

शास्त्र वेदाङ्ग बताया गया है। रघुनन्दन के अष्टविंशति-तत्व में तन्त्रों का प्रमाण दिया गया है। वह उन्हें दुर्गा की पूजा में नियत करता है जैसा कि उसके पूर्ववर्ती श्रीदत्त, हरिनाथ और विद्याधर एवम् दूसरे आचार्यों ने किया है। आश्विन १३१७ की साहित्य-संहिता में महामहोपाध्याय यादवेश्वर तर्करत्न के 'तन्त्रर प्राचीनत्व' नामक लेख में इनमें से कुछ तथा दूसरों का उल्लेख हुआ है। ताराप्रदीप तथा दूसरे ग्रन्थों में लिखा है कि कलियुग में तान्त्रिक धर्म का ही अवलम्बन करना चाहिये, वैदिक का नहीं। साधारणतया तन्त्रों की आधुनिकता एवम् उनके अप्रामाणिक होने की धारणा भारतीयों ने अपने योरपीय गुरुओं से प्राप्त की है। यहाँ किसी विशेष प्रकार की उपासना की ओर मेरा संकेत नहीं है।

शाक्त धर्म-ग्रन्थों में वेद के अन्तर्गत केवल ऋक, यजुः, साम और अथर्व को ही नहीं लेते, किन्तु इनके साथ ही अथर्ववेद का उत्तरकाण्ड भी गिना जाता है। इस उत्तर-काण्ड का नाम इसके उपनिषदों के सहित सौभाग्य-काण्ड है। सायण ने केवल पूर्वकाण्ड पर ही अपना भाष्य लिखा है। ये सब संख्या में चौंसठ हैं।

इसी मत के अनुसार निगम, आगम, यामल और तन्त्रों की भी वेद में गणना है। जो दूसरे शास्त्र वेद का अर्थ खोलते हैं, जैसे पुराण, स्मृति एवं इतिहास इत्यादि, वे सब इन्हीं से निकले हैं। यही सब शास्त्र मिल कर शतकोटि संहिता नाम को चरितार्थ करते हैं, जो एक दूसरे के आधार से निकल कर इस प्रकार विकसित हुये हैं। सर्व-विद्या-सिद्ध सर्वानन्दनाथ अपने तान्त्रिक सग्रह में नारायणी-तन्त्र

का प्रमाण देकर यह प्रकट करते हैं कि निगम से आगम निकला है। यहाँ मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि सम्मोहन तन्त्र में लिखा है कि केरल सम्प्रदाय दक्षिण में है और वह वेदानुयायी (वेदमार्गस्थ) है और गौड (जिसके सर्वानन्दनाथ हैं) वाम है और वह निगम का अनुयायी है। इसी कारण उसने निगम को महत्व दिया है। वही सर्वतत्त्व-विद्यासिद्ध आचार्य आगे लिखता है कि आगम से यामल निकला और यामल से चारों वेद। फिर वेदों से पुराण और पुराणों से स्मृतियाँ एवम् स्मृतियों से अन्यान्य शास्त्र। उसका कथन है कि पाँच निगम और चौंसठ आगम हैं। चार यामलों का भी उल्लेख है। कुछ लोग यह जान कर आश्चर्य करेंगे कि वेदों की उत्पत्ति यामलों से हुई अर्थात् वे इनके अन्तर्गत थे। इस सम्बन्ध में मैं नारायणी-तन्त्र का एक श्लोक उद्धृत किये देता हूँ—

ब्रह्मयामल-सम्भूतं सामवेद-मतं शिवे।
रुद्रयामल-सञ्जातः ऋग्वेदो परमो महान्॥
विष्णुयामल-सम्भूतः यजुर्वेद कुलेश्वरि।
शक्तियामल-सम्भूतं अथर्व परमं महत्॥

विरोधी सम्प्रदायों के लोग कुछ तन्त्रों को वेद-विरोधी बताते हैं। परन्तु इनके माननेवाले इस अभियोग का तिरस्कार करते हैं। उदाहरण के लिये जैसे कि नित्या षोडशिकाऽर्णव की टीका में पञ्चरात्र वेद-भ्रष्ट कहा गया है। इस बात में सन्देह नहीं है कि कुछ सम्प्रदाय वास्तव में अवैदिक थे, परन्तु समय की गति के अनुसार धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाण, विश्वास

तथा क्रियाओं का विभिन्न प्रकार का सम्मिश्रण हो ही जाता है।

जिस सिद्धान्त के अनुसार आगम एवं तत्सम्बन्धी दूसरे शास्त्र चारों (विकार) वेदों के साथ केवल तुल्य प्रामाणिक ही नहीं माने जाते, किन्तु उनसे पहले के भी वे ग्रहीत होते हैं उस सिद्धान्त को हम स्वीकार करें या न करें, पर हमें वास्तविक बातें माननी ही पड़ेंगी। वे कौन सी बातें हैं ?

जैसा कि मैं कह चुका हूँ हिन्दू धर्म के एक सम्प्रदाय का ऐसा रूप है, जो परीक्षा करने पर मिश्रित मालूम पड़ता है। अब मैं इस बात का विचार शाक्तों की दृष्टि से नहीं, किन्तु निरपेक्ष दृष्टि से करता हूँ। हमें यदि एक ओर अपनी संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के सहित चार वेद मिलते हैं तो दूसरी ओर वह ग्रन्थ-समुदाय है, जो पाँचवाँ वेद कहलाता है और जिसके अन्तर्गत निगम, आगम तथा तत्सम्बन्धी दूसरे शास्त्र एवं कुछ मुख्य तान्त्रिक उपनिषद् हैं। ये तान्त्रिक उपनिषद् अथर्ववेद के सौभाग्यकाण्ड में शामिल हैं। वैदिक और तान्त्रिक कल्पसूत्र और सूक्त भी विद्यमान हैं जैसे तान्त्रिक देवी और मत्स्यसूक्त। ब्रह्मसूत्र की जोड़ का अगस्त्य-कृत शाक्तसूत्र है। जैसे, वैदिक संस्कारों की व्यवस्था है, वैसे ही तान्त्रिक संस्कार भी होते हैं। वैदिक दस संस्कारों की तुलना तान्त्रिक अभिषेकों से होती है। इसी तरह वैदिक और तान्त्रिक दीक्षा (उपनयन और दीक्षा); वैदिक और तान्त्रिक गायत्री; वैदिक ॐ और तान्त्रिक बीज जैसे 'ह्रीं'; वैदिक गुरु और देशिक गुरु इत्यादि जैसी बातों का जोड़ मिलता चला जाता है। ऐसा ही जोड़ का सादृश्य औषधि, विधान और

लेखन में भी विद्यमान है। वैदिक आयुर्वेद वनस्पतियों का उपयोग करता है तो तान्त्रिक धातुओं की भस्मों का, वैदिक धर्मपत्नी का जोड़ शैव स्त्री से मिलता है। वेदों में ...तत्त्वों का मिलान तो पहले ही बतलाया जा चुका है। कोई कोई यह भी कहते हैं कि गौड़ इत्यादि देशों में एक विशेष प्रकार की तान्त्रिक लिपि का भी प्रचार था।

इन सब बातों का क्या अर्थ है ? इस समय उनका निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह विषय ही भुला सा दिया गया है। अतएव लोगों को उसका ज्ञान बहुत ही कम है। किसी प्रकार के परिणाम, इस निश्चय के साथ कि सत्य हैं, उपस्थित करने के पहले हमें उन तान्त्रिक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए, जो उपलब्ध हैं। परन्तु यह बात तुरन्त ज्ञात हो जायगी कि यदि, जैसा मैंने बताया है, इस प्रकार का मिश्रित क्रम रहा है, तो उससे यह सूचित होता है कि वास्तव में धर्म के दो मार्ग थे, जिनमें एक ने (सम्भवत: कुछ बातों में प्राचीनतर धर्म ने) दूसरे के कुछ अंश अपने में शामिल कर लिये एवं समय की गति के अनुसार उसे दबा भी दिया। वेदों और आगमों के सम्बन्ध में तान्त्रिकों के कथन का यही सार है। यदि ये दोनों प्रामाणिक नहीं हैं तो फिर देशिक गुरुओं एवं तान्त्रिक दीक्षा की ओर इतनी श्रद्धा क्यों प्रदर्शित की जाती है ?

सम्भवत: प्राचीन काल में कई एक अवैदिक सम्प्रदायों का अस्तित्व था। वे वेद-बाह्य थे। परन्तु समयानुसार कई एक वैदिक धार्मिक क्रियाओं में उनकी भी कुछ बातें आ गई। यह भी हो सकता है कि कुछ ब्राह्मणों ने इन अनार्य सम्प्रदायों को स्वीकार कर लिया हो, जैसा कि आज-कल हम ब्राह्मणों को

नीच जातियों के धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करते देखते हैं और जो उन्हीं के नाम से पुकारे जाते हैं। ये दोनों शास्त्र कम से कम बराबर बराबर प्रामाणिक माने जाते थे। अन्त में वैदिक कर्मकाण्ड का लोप हो गया और स्मार्त-धर्म एवं आगमों की क्रियाओं में उसकी छाप रह गई। जो विचार यहाँ प्रकट किये गये हैं, इन्हें मैं निश्चयपूर्वक ठीक नहीं कह सकता। इनको केवल सूचना के रूप में ग्रहण करना चाहिये और ये इस उद्देश्य से व्यक्त किये गये हैं कि जब आगमों की उत्पत्ति की खोज की जाय, तब इन पर विचार करना ही पड़ेगा। यदि ये विचार ठीक हों, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि वैदिक धर्मानुयायी आर्यों का प्रभाव दूसरे सम्प्रदायों पर जरूर पड़ा, तो भी एतद्देशीय निवासियों के विश्वास तथा प्रक्रियाएँ ज्यों की त्यों आज तक बनी रहीं।

आज-कल के स्मार्त अपने को श्रौत बतलाते हैं, यद्यपि श्रौत-कर्म-काण्ड में अनेक पौराणिक बातें शामिल हो गई हैं। प्राचीन वैदिक आचार की प्रतिपादक आर्यसमाज नाम की दूसरी संस्था भी वर्तमान समय में उठ खड़ी हुई है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इसमें भी आधुनिकता आ गई है। तान्त्रिक सम्प्रदाय का निदर्शक स्वयं वर्तमान समय का हिन्दू धर्म है, जो शैव, शाक्त, वैष्णव एवं अन्यान्य सम्प्रदायों में विभक्त है।

मेरी समझ में यह बात अभी सम्भव नहीं है कि किसी विशेष तान्त्रिक सम्प्रदाय के सिद्धान्त तथा उसका उपासना-प्रकार निश्चय-पूर्वक रीति से उपस्थित किया जा सके और यह बतलाया जा सके कि वह दूसरे सम्प्रदाय से किन किन

बातों में भिन्न है। इस समय तो पूर्ण रीति से यह भी बताना असम्भव है कि असली शाक्त कौन थे, उनकी उप-शाखाओं तथा शैव-समुदाय के साथ उनके सम्बन्ध और भेद का स्वरूप कैसा था। इस तरह बङ्गाल के कौल सामान्यतया ब्रह्मज्ञानी शाक्त-समूह के अन्तर्गत हैं, परन्तु सम्मोहन-तन्त्र में लिखा है, जैसा ऊपर एक श्लोक में उल्लेख किया गया है, कि शाक्त और कौल भिन्न-भिन्न हैं। सम्भवतः इसका अर्थ 'कौल'-नामधारी विशेष शाक्तों के समूह का साधारण शाक्तों से पार्थक्य सूचित करता हो। मुझे यह बात मालूम है कि काश्मीर में कुछ कौल अपने को शैव कहते हैं। इन तथा ऐसे ही दूसरे प्रश्नों की मीमांसा के लिये अभी तान्त्रिक ग्रन्थों के और अधिक अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। इस समय मैं केवल पङ्कोद्धार मात्र कर रहा हूँ और वह भी इस आशा से नहीं कि मैं कीचड़ में ईप्सित वस्तु का उद्धार कर सकता हूँ किन्तु इसलिये कि मैं केवल इस कार्य्य का श्रीगणेश भर कर रहा हूँ, जिसे दूसरे लोग पूर्ण करेंगे।

[४]

जिन्होंने तन्त्र-शास्त्र का मनन नहीं किया, उन्होंने यह नहीं जाना कि आज-कल के हिन्दू-धर्म का क्या स्वरूप है। यह विषय भारतीय ज्ञान का एक महत्त्व-पूर्ण अङ्ग है, अतएव योग्य विद्वानों को चाहिये कि वे इसका अनुशीलन करें। इस सम्बन्ध में मैंने जो लिखा है, वह अज्ञानियों को ऊटपटाँग आलोचना करने से सावधान करने के लिये पर्याप्त है। इस समय केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति शक्ति

का मन्त्र जपता है और उसके यन्त्र की अर्चना करता है, वही शाक्त है। इस प्रकार के उपासकों के कई एक सम्प्रदाय भी हैं। हम क्या कर सकते हैं तथा पहले हमें क्या करना चाहिए, इसके लिए हमें शाक्त-दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। शाक्त दर्शन ज्ञेय से अज्ञेय का मार्ग बताता है। शाक्त-मत अर्थात् शक्तिवाद जैसा कि इस समय अस्तित्व में है, कोई नवीन वस्तु नहीं है, किन्तु वह अपने पूर्ववर्ती विभिन्न मतों का विकसित तथा मिश्रित रूप है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि शाक्त-मत अद्वैतवाद है। हम यह बात इसलिये कह सकते हैं कि वह बङ्गाल में फूला-फला, जो प्राचीन गौड़ देश होने के कारण अद्वैतवाद तथा तन्त्र-शास्त्र का गुरु है। गौड़पादाचार्य्य, अद्वैत-सिद्धि के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती, रामचन्द्रतीर्थ भारती, चित्सुखाचार्य तथा दूसरे लोग गौड़देश के ही थे। मुझे ब्रह्म-परायण बङ्गाली लोगों की मनोवृत्ति अद्वैतवाद की ही और प्रवृत्त प्रतीत होती है। शाक्त-आगम तथा अद्वैत-शैवागम में सम्पूर्ण अद्वैतवादियों के लिये उच्च कोटि की अर्चना का विधान है। शाक्तों के अद्वैत सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण देना बड़ा ही जटिल और रहस्यपूर्ण कार्य है। यह विषय इस लेख की सीमा के बाहर का है। मैं यहाँ केवल यह उल्लेख कर सकता हूँ कि शाक्त-तन्त्रों में चौंसठ तत्व बताये गये हैं। ये तत्त्व अग्नि, सूर्य्य और चन्द्र की दस, बारह तथा सोलह कलाओं से निर्मित हुये हैं। ये सब क्रमपूर्वक कामकला के स्वरूप हैं। कामकला के जो अग्नि, सूर्य्य और सोम रूप हैं, उनकी क्रमपूर्वक दस, बारह और सोलह कलाओं से ६४ तत्त्वों की सृष्टि हुई है, और इसके सिवा सदाशिव की १६, ईश्वर की ? और रुद्र,

विष्णु तथा ब्रह्मा की दस दस से। ५१ कलाएँ या मातृकाएँ जो ५१ वर्णों के सूक्ष्म रूप हैं, इन्हीं ६४ तत्वों के भाग हैं। ये सब कुण्डली की वे ५१ गुरियाँ हैं, जो बिन्दु से लेकर श्री मातृकोत्पत्ति सुन्दरी तक अवस्थान करती हैं। जो शाक्त मद्य का ग्रहण करते हैं, वे इनकी पूजा मद्य-घट में करते हैं।

शाक्तों का दिव्य सिद्धान्त यह है कि वे ईश्वर को मातृ-रूप से देखते हैं। वे उस शक्ति को ईश्वर मानते हैं, जो इस सृष्टि की जननी, पोषणी तथा संहारिणी है। शाक्त उपासकों का यही विश्वास है। यद्यपि सम्मोहन-तन्त्र में शङ्कर को बौद्धों के विजेता-रूप में उच्च स्थान दिया गया है, अर्थात् वे शिव और उनके पाँच शिष्य पञ्च महाप्रेतों के अवतार माने गये हैं, तो भी उपासना-विधायक आगम ग्रन्थों में माया-वाद की चर्चा नहीं है, जो शङ्कर के मतानुसार एक भव्य सिद्धान्त है। शाक्त उपासक के मत में माया न अचैतन्य है, न यथार्थ है, न अयथार्थ है और न यथार्थ अयथार्थ ही है। वह ईश्वर-रूपी ब्रह्म से संयुक्त अवश्य है, पर स्वयं ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म माया के सिवा और किसी से संयुक्त नहीं है। शाक्त के लिये माया शक्ति रूप है। शक्ति अपने आपको चेतना से आवृत्त किये है और स्वयं शक्ति होने के कारण वह चिद्रूपिणी है। जो कुछ शाक्त के दृष्टि-पथ में आता है, उसे वह माया-मय समझता है। सब कुछ चैतन्य-मय है। शाक्तों की साधना का यही लक्ष्य है। इस विषय की मीमांसा मैं यहाँ नहीं करूँगा। जब सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तब तक के लिये जगह नहीं रह जाती। उस स्थिति के पूर्व तक मनुष्य माया के अधीन बना रहता है और उसे वही करना और सोचना पड़ता है, जिस बात की वह प्रेरणा करती है। इस ईश्वरीय चेतना के

अस्तित्व का वास्तव में अनुभव करना दार्शनिक रीति से उसकी व्याख्या करने की अपेक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आदि-जननी पहले अपने उपासक की माता के रूप में प्रकट होती है, फिर उसकी स्त्री के रूप में और तब कालिका के रूप में। वह वृद्धावस्था में रोग और मृत्यु के रूप में प्रकट होती है। वह वही है, जो सर्वसंहारिणी शक्ति के रूप में इस संसार में अवतीर्ण होती है। जगद्व्यापी महायुद्ध इसी का स्वरूप समझना चाहिये। ऐसे रूप की भयंकर सुन्दरता समझ में नहीं आती और इसी कारण हम मदरास के एक ईसाई पादड़ी को अभी हाल में यह कहते पाते हैं कि 'देवी क्या है? वह पिशाचिनी है।' यह बात उसने चामुण्डा-मूर्ति को देखने पर भयभीत होकर कही थी।

जैसे अद्वैतवादी किसी सम्प्रदाय में सीमाबद्ध नहीं होते, वैसे ही शाक्त लोग भी। उनका कहना है कि शाक्त-मत संकुचित साम्प्रदायिक भावों से स्वतन्त्र है। दूसरी बात यह है कि अन्य आगमों के सदृश शाक्त-मत में सब जातियों और स्त्री-पुरुष दोनों के लिये विधान निर्धारित है। सच्चे वैदिक सिद्धान्त चाहे जो हों, पर वैदिक लोग सब किसी को अपने धर्म में दीक्षित नहीं करते। वे लोग स्त्रियों और शूद्रों को अपने धर्म से अलग रखते हैं। यह बात समझ लेना सरल है कि वे सम्प्रदाय, जो अनार्य कहे जाते हैं, ऐसा क्यों नहीं करते।

शाक्त-मत का सबसे अधिक उज्ज्वल स्वरूप उसका स्त्री-जाति का सम्मान है। जो लोग जगज्जननी की उपासना करते हैं, उनके लिये यह बात स्वाभाविक ही है, क्योंकि स्त्री-मात्र उसी जननी के विग्रह हैं। सर्वोल्लास में लिखा भी है—स्त्रियो देवः, स्त्रियो प्राणः। अम्बादेवी का विग्रह स्त्री है, अतएव तन्त्र-ग्रन्थों में इस बात का आदेश है कि स्त्रियों और कुमारिकाओं का सम्मान और उनकी पूजा हो। उनमें इस बात की स्पष्ट आज्ञा है कि उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचाई जाय। अतएव सती-प्रथा जैसी बातें भी वर्जित हैं। यहाँ तक कि स्त्री-पशु का बलिदान करने का भी निषेध है। महानिर्वाण-तन्त्र में विवाह के पहले कन्याओं के पठन-पाठन की भी व्यवस्था है। तन्त्र-ग्रन्थों में स्त्रियों को मन्त्रोपदेश करने का अधिकार दिया गया है। स्त्रियाँ भी गुरु-पद पर अधिष्ठित हो सकती हैं, यह प्रथा शाक्त-मत में ही है। एक इसी बात से उनके सम्मान की थाह मिल सकती है। यह एक ऐसी बात है, जो पाश्चात्य देशों में भी नहीं है। लिखा है कि माता से दीक्षा लेना पुरुष की अपेक्षा अठगुना अधिक फल-दायक है। ज्ञानी शाक्त की दृष्टि में सम्पूर्ण जगत् स्त्री-मय है।

[५]

अद्वैतभाव उपनिषद् में लिखा है "अहम् स्त्री"। अतएव इस समय हम आदि-जननी की अर्चा केवल एक इसी बात से कर सकते हैं कि हम उन दोषों को दूर कर दें, जिनका समर्थन न तो प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों से हो सकता है और न आधुनिक समाज-विज्ञान से ही। स्त्रियों का सम्मान करना, उन्हें प्रसन्न रखना, शिक्षित करना और उनकी समुन्नति करना ही स्वयं उपासना का उच्च प्रकार है। स्त्रियों के सम्मान की तन्त्र-ग्रन्थों में स्पष्ट व्यवस्थायें पाई जाती हैं। महानिर्वाण-तन्त्र का यह आदेश है कि जो कौल घृणा के कारण चाण्डाल या यवन या स्त्री को दीक्षा देने से इनकार

करता है, वह पतित है और अधोगति को प्राप्त होता है
शाक्त-मत में कृत्रिम तथा काल्पनिक नहीं किन्तु वास्तवि
अयोग्यता की बुनियाद के बिना कोई भी व्यक्ति किसी बात
बहिष्कृत नहीं किया जाता।

एक प्राच्यविद् अमरीकी आलोचक 'तान्त्रिक-दर्शन'
निरर्थकता सिद्ध करते हुये लिखता है कि "वह केवल धार्मि
स्त्रीत्ववाद है। उसमें सिवा पागलपन के और कुछ नहीं
उसने प्राचीन वेदान्त को स्त्रीत्व-वाद-मय कर दिया है।
मत 'सफ्रेगीट' अद्वैतवादियों के लिये है। उसका यह सिद्धा
कि स्त्रीत्व-वाद पहले का है और उसमें पुरुषवाद शामिल
एवं यह स्त्रीत्व-वाद सर्वोच्च दैवी ज्ञान है, बिलकुल नि
धार है।"

तान्त्रिक-दर्शन की "निरर्थकता" एक व्यक्तिविशेष
सम्मति है, अतएव इस पर कुछ कहना अनावश्यक
विशेष कर इस बात से भी कि जो प्राच्यविद् लोग अपर्या
ज्ञान के कारण स्वयं ही इस सम्मति को पहले से ही मा
चुके हैं, वे उसे सहज में परित्याग नहीं करेंगे। परन्तु
आलोचना की बुनियाद ढूंढ़ने पर मालूम हो गया कि
स्वयं निरर्थक है। यदि उपर्युक्त आलोचना अज्ञानता
कारण न हुई होती, तो आलोचक यह बात लिखना अ
वश्यक न समझता कि आकाश में एक स्त्री 'सफ्रेगीट' है
कोई और ही है। वह स्वर्गीय स्त्री स्त्री-समाज के कुछ सद
से घिरी रहती है और उसके द्वारा जगत् के पुरुष-समुदाय
शासन होता है। पर यामल-ग्रन्थों में लोगों के ज्ञान के हि
स्पष्ट लिख दिया गया है—वह न स्त्री और न पुरुष है, दो में
एक भी नहीं है।

अमरीकी अध्यापक लीस्टरवार्ड तथा दूसरे लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तन्त्रों में स्त्री-सम्बन्धी सिद्धान्त को जो महत्त्व दिया गया है, उसका शाक्त-मत के सिद्धान्तों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हम यहाँ विज्ञान या समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों का निराकरण नहीं कर रहे हैं। पाश्चात्य आलोचकों की यह एक साधारण भूल है कि वे भारतीय धर्म-ग्रन्थों को भौतिक अर्थों में ला घसीटते हैं। इसी कारण वे उसका रहस्य नहीं समझ पाते।

शाक्त-मत का सम्बन्ध उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों से है, जो पूर्वकाल में विद्यमान थे और जिनसे स्त्री-पुरुष दोनों की उत्पत्ति हुई है। जीववर्ग के किसी भी रूप में स्त्री पुरुष से पूर्ववर्ती है। इस प्रश्न से शाक्त-मत का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और न वह यही कहता है कि स्त्री-सम्बन्धी सिद्धान्त एक श्रेष्ठ दैवी सिद्धान्त है। पुरुष-शिव-स्त्री शिव के समान है, क्योंकि दोनों एक ही वस्तु हैं। प्राच्यविदों को मालूम ही होगा कि सांख्य में प्रकृति स्त्री-वाची है और पुरुष पुरुषवाची। वेदान्त में भी माया तथा देवी स्त्रीलिङ्ग माने गये हैं। शक्ति न तो नर है और न नारी ही है। नर-नारी का सिद्धान्त उस पर नहीं लागू होता। यह बात समाज-शास्त्र की दृष्टि से कही गई है; क्योंकि इसी शास्त्र में ये शब्द अपने यथार्थ अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

शक्ति चिह्न-रूप में स्त्री है, क्योंकि वह उत्पादन करती है। शिव, जहाँ तक चित्‌रूप को व्यक्त करता है, निष्क्रिय है। यद्यपि सृष्टि में ये तीनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। परमेश्वर निर्गुण शिव है, जो न तो पुरुष है और न स्त्री है। शाक्त-मत के सम्बन्ध में ऐसी भ्रम-पूर्ण सामान्य सम्मतियों की उपस्थिति

से यह किसी तरह सम्भव नहीं था कि उसके अधिक सूद विचारों की शङ्कर के मायावाद या सांख्य-दर्शन के सम प्रशंसा होगी। शक्ति-वाद का स्त्री-वाद से कुछ भी सम्बन्ध नह है।

शाक्त-धर्म की स्वाभाविक विशेषताएँ उसका अद्वैतवा ईश्वर को मातृत्व-रूप प्रदान, उसकी असाम्प्रदायिकता तथ स्त्रियों और शूद्रों के लिये भी विधान की व्यवस्था तथा उसक साधना, जिसका अवलम्बन करने से उसकी शिक्षाएँ प्रत्य हो जाती हैं, इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातें हैं।

जैसा कि मैंने कई बार उल्लेख किया है, शाक्तों की साध अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। परन्तु आजकल लोगों ने उस उपेक्षा कर दी है। आगम और तन्त्र-ग्रन्थों को ऊँचा आस इसी साधना-प्रक्रिया की बदौलत ही प्राप्त हुआ है। धर्म सम्बन्ध में वार्तालाप करना केवल ज्ञानात्मक व्यायाम है आत्मा के सम्बन्ध के भारी-भारी उद्गार किस अर्थ के जब कि उनका कथन करनेवाले एक-दूसरे को कष्ट देते घृणा से देखते हैं और असहायों की सहायता नहीं करते दया ही धर्म है। धर्म एक प्रकार की व्यवहार्य क्रिया है। और शरीर दोनों शिक्षित करने चाहिये। जैसे शारीरिक मानसिक व्यायाम होते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक भी।

शाक्त-मत के अनुसार प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री शक्ति की एक विशाल-राशि अन्तर्निहित रहती है। शक्ति-श 'शक'-धातु से बना है, जिसका अर्थ किसी कार्य के करने शक्ति रखना है। स्त्री-पुरुष दोनों शक्ति ही हैं। शक्ति के सि वे और कुछ नहीं हैं, क्योंकि शक्ति का स्वरूप चेतना है,

मन तथा शरीर शक्ति ही हैं। तब यह प्रश्न होता है कि शक्ति जागृत कैसे की जाय ?

शाक्त-धर्म में इसकी साधना का कार्य बताया गया है। आगम एक प्रकार का व्यावहारिक दर्शन है। मेरे बङ्गाली मित्र अध्यापक प्रमथनाथ मुखोपाध्याय ने ठीक ही कहा है कि आध्यात्मिक जगत् आज एक ऐसे दर्शन का इच्छुक हो रहा है, जो केवल तर्क नहीं सिखाता है। यह क्रिया है। जिन रूपों में साधना पहुँचती है, वे विश्वास, स्वभाव और योग्यता के अनुसार अवश्य ही बदलेंगे।

[६]

ईसाइयों के कैथलिक सम्प्रदाय में हिन्दू-धर्म की भाँति पूर्ण साधना विद्यमान है। उसके सैक्रामेण्ट (संस्कार), गिरजे, धूप, दीप, घंटे आदि उपचारों के सहित खानगी उपासना, प्रतिमा (इसी कारण ये लोग मूर्तिपूजक कहलाते हैं), भक्ति-सम्बन्धी क्रियाएं तथा उसी तरह की दूसरी बातें (व्रत), प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल का त्रितय (सन्ध्या), माला, कवच-धारण, तीर्थयात्रा, व्रत, संयम, तपस्या, संन्यास, ध्यान, समाधि इत्यादि जो बातें इस धर्म में प्रचलित हैं, उनसे उपर्युक्त कथन सिद्ध ही हो जाता है।

इनके सिवा दूसरी छोटी-छोटी ऐसी बातें हैं—जैसे कि शान्ति-अभिषेक (ऐस्परेजेज़) जिनके सम्बन्ध में, मैं यहाँ अधिक लिखना नहीं चाहता। परन्तु धर्माध्यान, जो कैथलिक ईसाई-धर्म के गुरुपद पर अधिष्ठित होता है, 'मेरी' माता की उपासना, जिनके कारण स्वामी विवेकानन्द इटालियन कैथलिकों को शाक्त कहते थे, और कम्यूनियन सर्विस में मद्य-

रोटी के उपयोग का उल्लेख मैं कर सकता हूँ। यद्यपि 'मेरी' माता की भक्ति उसी प्रकार की जाती है जैसे यहाँ देवी की परन्तु वह देवी नहीं है, क्योंकि वह ईश्वर नहीं है। वह ईश्वर की प्रजा है, जिसके द्वारा भगवान ने अवतार लिया है।

कम्यूनियन सर्विस में मद्य और रोटी ईसा के रक्त और मांस के रूप में परिग्रहीत होती है। इसी प्रकार शाक्त लोग तारा को भी द्रव्यमयी अर्थात् द्रव्य-रूप में ग्रहण करते हैं। कैथलिक सम्प्रदाय में (यद्यपि पहले दूसरी ही प्रथा थी) उपासक-वर्ग अब मद्य नहीं ग्रहण करता, केवल रोटी ही स्वीकार करता है परन्तु उनका आचार्य दोनों वस्तुएं ग्रहण करता है। इस विषय का बाह्य रूप, यद्यपि एक सा ही है, तो भी उसका भीतरी अर्थ भिन्न है। जो लोग यह कहते हैं कि खाने पीने से अर्चना का कोई सम्बन्ध नहीं है, उन्हें यह याद रखना चाहिए कि स्वयं ईसा ने अपने प्रसिद्ध संस्कार को भोजन से ही प्रारम्भ किया था। ये बातें द्वैत-वादियों की हैं।

अद्वैतवादी अपने प्रत्येक कार्य को यज्ञ का रूप प्रदान करता है। 'एगेप' अर्थात् प्रीति-भोज एक प्रकार की चक्र पूजा है। यह प्रारम्भ में प्रचलित थी, परन्तु पीछे से कई एक बुराइयों के उठ खड़ी होने के कारण बन्द कर दी गई। तो भी इस समय भी कुछ साधारण ईसाई-सम्प्रदायों में यह प्रथा प्रचलित है।

तन्त्र-शास्त्र की कुछ दूसरी बातें ऐसी हैं, जिनका मेल कैथलिक ईसाइयों की उपासना में नहीं मिलता। वे उनके न्यास और यन्त्र-पूजा आदि हैं। ईसाइयों में इन क्रियाओं का अस्तित्व नहीं है। प्रार्थना से मन्त्रों की तुलना हो जाती है और शाक्तों की मुद्राओं का भी मेल ईसाइयों की उसी प्रकार की प्रक्रियाओं से हो सकता है, परन्तु जितनी अधिक मुद्राएँ शाक्तों में प्रचलित हैं, उतनी ईसाइयों में नहीं हैं।

कैथलिक ईसाइयों और भारतीय तान्त्रिकों में कितना अधिक साम्य है, यह सिद्ध करने के लिये हमारा उपर्युक्त विवेचन पर्याप्त है। इन्हीं बातों के कारण नव संस्कृत ईसाइ-सम्प्रदायों ने कैथलिक सम्प्रदाय को मूर्ति-पूजक ठहरा कर निन्द्य बताया है। यह बात जरूर ठीक है कि कैथलिक सम्प्रदाय सनातन की अपनी प्रथाओं का अनुसरण बराबर करता चला आया है, परन्तु इस बात के लिये उसकी निन्दा उचित नहीं कही जा सकती। हिन्दुओं की वह साधना, जिसे उन्होंने प्रस्फुटित किया था, आगम के तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित है। तब ऐसी कोई बात नहीं कि हिन्दू लोग अपनी साधना को विकसित या उसमें परिवर्तन क्यों न करें अथवा नई साधनाओं का विधान नये सिरे से क्यों न तैयार करें। परन्तु मुख्य बात यह है कि उन्हें अपने इन नवीन संस्कारों को साधना का रूप देना होगा। किसी भी पद्धति को फलवती बनाने के लिये सबसे पहले यह बात आवश्यक है कि प्रयोग करके उसका अनुभव प्राप्त किया जाय।

अपने ऐसे ही संस्कारों तथा सुव्यवस्था के कारण पश्चिम में कैथलिक धर्म आज दिन भी जीवित है और 'सुधारों'-द्वारा नित्य नये सम्प्रदायों के जन्म लेने एवं उनके शीघ्र ही विनष्ट हो जाने की घटनाओं के समक्ष अपने स्थान पर वह चट्टान की सदृश अटल है। वह इसी प्रकार भविष्य में भी बना रहेगा, जब वर्तमान समय के नवीन सम्प्रदाय एक एक करके काल के गाल में समा जायँगे।

[७]

सारी वस्तुएँ अपने सत्य गुण ही की बदौलत चिरस्थायी रहती हैं। जिस विशेष सत्य का मैंने यहाँ उल्लेख किया है वह यह है कि कोई भी धर्म हो, वह केवल स्तुति-पाठ के बल ही पर कायम नहीं रह सकता। सत्य ही की बदौलत हिन्दू धर्म भी आज जीवित है।

इस प्रकार के कथन का यह मतलब नहीं है कि इनमें कोई भी, जैसा कि उनका वर्तमान रूप है, प्रलय-पयन्त कायम रहेगा। पश्चिम का हो, चाहे पूर्व का हो, संस्कृत सम्प्रदाय जब उसका विचार मनुष्य के सम्बन्ध में किया जाता है, उ सत्य का अपूर्ण व्यक्तीकरण है, जो समझ में नहीं आया और जिसका दुष्प्रयोग हुआ है। जैसे कि मनुष्य ज्यों ज्य अध्यात्म दृष्टि से ऊपर को चढ़ता है, त्यों त्यों वह किसी रूढ़ि विशेष में कम निर्भर रहने लगता है। जो भूलें ऐसे सम्प्रदा करते हैं, उनमें से एक यह है कि वे विषय के एक ही पह का विचार करते हैं। इसके सिवा वे यह कल्पना कर लेते हैं कि सब मनुष्यों की अभिरुचि एक ही प्रकार की होती है आगम में ऐसी भूल नहीं है। जो उपासक योग-साधना अधिकारी नहीं हुये, उनके लिये भी वह पूर्ण विधान उपस्थि करता है। योग-साधना से उपासक उस स्थान को पा लेता है जिसके कारण कुलार्णव के अनुसार वह ज्योति-वर्णाश्र कहलाता है। इस पद की प्राप्ति के बाद वह सारी रूढ़ियों बन्धन से छूट जाता है और निराकार में लीन हो जाता है

बौद्ध लोग ब्राह्मण धर्म को शीलव्रत परामर्श अर्थात् कर्म काण्ड की उपयोगिता का विश्वास करानेवाला कहते हैं

वह ऐसा है भी और बौद्धधर्म भी पहले ऐसा ही था, परन्तु महायान-सम्प्रदाय का संगठन होने पर वह वज्रयान-मत की पूर्ण तान्त्रिक साधना के साथ समाप्त हो गया। मानव-भावनाएँ ऐसी होती हैं, जो दबाई नहीं जा सकतीं। उस दिन हिन्दू-धर्म का लोप हो जायगा, जब उसकी साधना (चाहे उसका जो रूप हो) का अस्तित्व मिट जायगा और तत्सम्बन्धी कोरी दार्शनिक तथा ऐतिहासिक बातें ही शेष रह जायँगी। शक्तिवाद को छोड़ कर शाक्त-तन्त्र-शास्त्र का मुख्य महत्त्व इस बात में है कि वह साधना की आवश्यकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और उस साधन के प्रदान करने का दावा करता है, जिससे सब कोई, चाहे वे जिस वर्ण के हों और चाहे वे स्त्री हों या पुरुष हों, वेदान्त की शिक्षाओं को व्यवहार में परिणत कर सकते हैं।

परन्तु बिना जाँच और परीक्षा किये हुये कोई बात अन्धवत् मान लेना ठीक नहीं है। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में जो कुछ मैंने लिखा है, उसे भी न मानना चाहिये। जो बातें मैं जानता हूँ, उन्हीं का वर्णन मैंने किया है। किसी बात का विचार करना मनुष्य का स्वत्व है। तदनुसार ही मैंने किया है। जो लोग शाक्त हैं, वे अपने मत के सम्बन्ध में मेरे विचार पढ़कर प्रसन्न हो जायँगे। परन्तु यह कल्पना न करनी चाहिये कि कोई बात केवल प्राचीन होने के कारण अवश्यमेव सत्य है। यह अत्यन्त ही भ्रमपूर्ण सिद्धान्त है। विज्ञान के निष्कर्ष जब देखो, तभी बदला करते हैं। हाल के अनुसन्धानों से उसके दर्प का प्रवाह स्थिर हो गया है और अब उसने अपने आप अपनी प्रभुतासूचक घोषणाएँ बहुत ही अधिक कम कर दी हैं, जिनसे हम लोगों में से कुछ पहले अधिक तङ्ग हुआ

करते थे। अनेक लोग ऐसा समझते हैं कि नतमस्तक होन
आध्यात्मिक गुरु ही के समक्ष समुचित है। कुछ लोग ऐस
कहेंगे कि अपने लिये अपना ही विचार भला है।

जीवन का उत्कृष्ट ध्येय दर्शनों का अनुशीलन ही है
परन्तु इसकी भी लोगों को जाँच कर लेनी चाहिये
जो बात स्वीकार करने के लिये निर्दिष्ट की गई है, व
तर्क-संयुक्त है या नहीं। यह बात प्रसिद्ध है कि इस
अधिक और कौन बात असम्भव होगी कि अमुक बात
दार्शनिक मानता था, इसलिये वह ठीक है। हममें से प्रत्ये
को प्रत्येक बात परीक्षा करके ही स्वीकार करना चाहिये। य
हमने अपना कार्य ईमानदारी से किया है, तो हमें हमा
सम्मति के लिये कोई निन्दित नहीं कर सकता। हमें सब बा
की परीक्षा करने का स्वत्व है। श्रुति कहती है—'मन्तव
श्रोतव्यः।' मनु ने कहा है—'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म
नेतरः।' अन्त में जो कुछ है, अनुभव है और वही शाक्त भा
में 'सोऽहम्' है।

[८]

उपासकों के प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने अपने तन्त्र अ
होते हैं। पञ्चोपासना के अनुसार उपासक पाँच प्रा
विभागों में विभक्त थे। वे सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव, श
कहलाते थे एवं इनके इष्ट-देवता क्रमपूर्वक सूर्य, ग
विष्णु, शिव और शक्ति थी। वर्तमान समय में केवल वैष्
शैव, शाक्त इन्हीं तीन विभागों का प्राधान्य है। अन्य
विभागों अर्थात् सौर और गाणपत्य का अस्तित्व बहुत
परिमित हो गया है। पश्चिमी भारत के कुछ स्थानों में ग

की उपासना अब भी लोकप्रिय है और मेरी धारणा है कि सौर या सौरों के चिह्न यत्र-तत्र विशेष करके सिन्धु देश में दृष्टिगोचर होते हैं।

तन्त्रों में छः आम्नायों का उल्लेख है। सम्मोहनतन्त्र (अ० ५) में देश-पर्याय के अनुसार पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय और ऊर्द्ध्वाम्नाय की व्यवस्था की गई है। मेरी समझ में साधारणतया अब इस आम्नाय से पूजा नहीं की जाती। परन्तु षडन्वय शाम्भव, जो उच्चकोटि का मुमुक्षु साधक होता है, मुँह छिपा कर इस आम्नाय से न्यास करता है। कहा जाता है कि पातालाम्नाय ही सम्भोग-योग है। शक्ति-क्रम में निष्कल स्वरूप पूर्व के लिए त्रिपुरा है; दक्षिण के लिए सौर, गाणपत्य और वैष्णव है; पश्चिम के लिए रौद्र भैरव है; उत्तर के लिए उग्रा, आपत्तारिणी है। शैव-क्रम में वही स्वरूप प्रथम के लिए सम्प्रत्प्रदा और महेश है, दूसरे के लिए अघोर कालिका और वैष्णव-दर्शन है; तृतीय के लिए रौद्र, भैरव, शैव हैं; चतुर्थ के लिए कुबेर, भैरव, सौदशक है और ऊर्द्ध्वाम्नाय के लिए अर्द्धनारीश और प्रणव है।

सम्मोहन-तन्त्र में आम्नायानुसार तन्त्रों का भी विभाजन किया गया है एवं विशेष विभाग भी दिये गये हैं, जैसे बटुकाम्नाय के अनुसार छः आम्नायों के तन्त्र। इस तन्त्र की केवल एक प्रति उपलब्ध हो सकी, अतएव यह बात ठीक ठीक नहीं कही जा सकती है कि जो विवरण यहाँ दिया गया है, वह कहाँ तक ठीक है।

उपासकों के प्रत्येक विभाग के लिए अपने अपने तन्त्र अलग अलग निर्दिष्ट हैं। जैसे जैनों और बौद्धों के अपने तन्त्र-ग्रन्थ अलग अलग हैं, वैसे ही इनके भी हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के अपने खास खास उपविभाग और तन्त्र होते हैं। क्रान्त, देश-पर्याय, काल-पर्याय इत्यादि के अनुसार इनके भिन्न भिन्न विभाग अलग अलग हैं।

सम्मोहन-तन्त्र में भिन्न भिन्न २२ आगमों का उल्लेख है। इनमें चीनागम (शाक्त), पाशुपत (सौर), पञ्चरात्र (वैष्णव), कापालिक, भैरव, अघोर, जैन, बौद्ध आगम भी सम्मिलित हैं। इनमें से प्रत्येक के तन्त्र और उपतन्त्र भी होते हैं।

सम्मोहन-तन्त्र में लिखा है कि काल-पर्यानुसार ६४ शाक्त तन्त्र हैं। इनके सिवा ३२७ उपतन्त्र, ८ यामल, ४ डामर, कल्पलता और कई एक संहितायें (१००), चूड़ामणियाँ अर्णव, पुराण, उपवेद, कक्षपुट, विमर्षिणी और चिन्तामणि संज्ञक ग्रन्थ हैं। शैव-श्रेणी के ३२ तन्त्र हैं। यामल, डामर इत्यादि भी उसके अलग अलग हैं। वैष्णव-श्रेणी के ७५ तन्त्र हैं। दूसरे ग्रन्थों के सिवा इसके अपने कल्प और उपबोध नामक ग्रन्थ भी हैं। सौर-श्रेणी के ३० तन्त्र हैं। यामल और उड्डीसादिक ग्रन्थ भी सौरों के अलग हैं। गाणपत्यों के पचास तन्त्र हैं। इनके उपतन्त्र, कल्प तथा दूसरे शास्त्रों के सिवा एक डामर और एक यामल भी है। बौद्ध-श्रेणी के अन्तर्गत कल्पद्रुम, कामधेनु, सूक्त, क्रम, अन्वर, पुराण और इसी तरह के दूसरे शास्त्र परिगणित किये गये हैं।

कुलार्णव और ज्ञानदीप तन्त्रों के अनुसार आचारों की संख्या सात निर्दिष्ट की गई है। इनमें से वैदिक, वैष्णव, शैव और दक्षिण ये चार आचार पश्वाचार कहे गये हैं। इनके

बाद वाम, फिर सिद्धान्त और तब कौलाचार का दर्जा आता है। ये तीनों आचार क्रम-पूर्वक एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। कहीं कहीं छः अथवा नौ आचारों का भी उल्लेख है। एवं भिन्न भिन्न प्रकार के भाव, सभाव, विभाव और देहभाव इत्यादि का भी वर्णन किया गया है। इन बातों का उल्लेख भावचूड़ामणि में हुआ है।

वेदाचार, दक्षिणाचार, और वामाचार आदि मुख्य विभागों की चर्चा यहाँ की गई है। पर वेदाचार से वैदिकाचार का मतलब नहीं है। वैदिकाचार उपर्युक्त आचार-सप्तक की कोटि के बाहर है। वेदाचार तान्त्रिक उपासना के एक आचार विशेष का नाम है। इसमें वैदिक क्रियाओं और मन्त्रों का उपयोग होता है। इसका उपास्य अग्निदेवता है। हम कह सकते हैं कि यह आचार उन लोगों के लिए था, जो श्रौत-वैदिकाचार के अधिकारी नहीं थे। मुझे लोगों ने बताया है कि इस आचार में दक्षिण और जो इस प्रकार के नाम मिलते हैं, वे बाद के आचार्यों के निर्दिष्ट किये हुए हैं। पूर्वोक्त दूसरे और तीसरे विभाग दक्षिणाचार कहलाते हैं। परन्तु दक्षिणाचार पश्वाचार है।

उपासना की दूसरी विधि का श्रीगणेश वामाचार से होता है। वामाचार की साधना करने पर साधक कौल पद को प्राप्त करता है तदनन्तर वह कौलावधूत, अवधूत और तब दिव्य हो जाता है। दिव्य पद प्राप्त हो जाने के बाद आचारों का झंझट छूट जाता है। यह पद स्वेच्छाचार भी कहलाता है। जो साधक इस पद को प्राप्त कर लेता है, वह जो कुछ काम करता है। या जिस वस्तु का स्पर्श करता है, वह सब पवित्र हो जाता है। वामाचार में तथा उसके आगे के दर्जों में मांस-

भक्षण और मद्य-पान विहित है। ये दोनों बातें उपासना क अङ्ग समझी जाती हैं। यही नहीं, उसमें मैथुन का भी समा वेश है, पर यह बात उतनी आवश्यक नहीं समझी जाती।

साधक पहले पशु रहता है। इसके बाद वह वीर होता है तदनन्तर वह दिव्य हो जाता है। इस तरह साधक के भ तीन दर्जे हैं। पशु आरम्भिक दर्जा है। मार्ग का अनुयायी हो जाने पर वीर का पद प्राप्त होता है और सिद्धि प्राप्त हो जाने पर दिव्य का दर्जा मिलता है। प्रत्येक सम्प्रदाय दक्षिणमार्ग औ वाममार्ग में विभाजित है। साधारण लोगों की यही धारण है कि इस प्रकार का विभाग केवल शाक्त-सम्प्रदाय में हो है परन्तु ऐसी बात नहीं है। गाणपत्य और वैष्णव तथा दूसरे भी वाममार्गी होते हैं।

स्वयं वामाचार के भी दो भेद हैं। उनके भी नाम दक्षि और वाम ही हैं। दक्षिण वामाचार में पत्थर या किसी दूसर वस्तु के पात्र में मद्य-पान किया जाता है और पूजन स्वकीय शक्ति या अपनी स्त्री के साथ किया जाता है। वा वामाचार में मद्य-पान कपाल-पात्र में किया जाता है औ पूजन पर-स्त्री के साथ होता है। परन्तु वामाचार के ही अन् र्गत कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं, जिनमें मद्य और मांस का संग्र तो होता है, पर स्त्री का नहीं; क्योंकि इनके साधक ब्रह्मचा होते हैं। परन्तु मेरे विचार में ये सम्प्रदाय शैव-श्रेणी अन्तर्गत हैं। ये शाक्त-श्रेणी से भिन्न हैं।

ब्रह्मानन्द स्वामी की शाक्तानन्द-तरङ्गिणी (२ परिच्छेद नाम के तान्त्रिक संग्रह में लिखा है कि आगम दो प्रकार होते हैं। एक तो सदागम और दूसरे असदागम। शब्द मूल अर्थ के अनुसार सदागम ही आगम है। (सदागम ए

आगम-शब्दस्य मुख्यत्वात्)। उसमें लिखा है कि आगम संहिता में शिव ने असदागम की इस प्रकार निन्दा की है—हे देवेशि, कलियुग में मनुष्य सामान्यतः राजसिक और तामसिक प्रकृति के होते हैं और वर्जित आचारों को ग्रहण करने के कारण दूसरों को धोखा देते हैं। हे सुरेश्वरि, जो लोग अपने वर्णाश्रम-धर्म का विचार न करके हमें मद्य, मांस और रक्त अर्पित करते हैं, वे मृत्यु के बाद भूत और ब्रह्मराक्षस होते हैं। इस प्रमाण से वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध उपासना का ग्रहण निषिद्ध है। परन्तु वामाचारियों का कहना है कि उपर्युक्त वचन हमारे सम्प्रदाय के लिये नहीं है। वे यज्ञ के रूप में संस्कृत-मद्य और मांस को ग्रहण करते हैं।

साधारणतया लोग यह समझते हैं कि वामाचार उस आचार का नाम है, जिसमें वामा अर्थात् स्त्रियाँ शामिल होती हैं। कुछ अंशों तक यह बात ठीक भी है, क्योंकि यह उन साधकों का लक्षण है, जो शक्ति के सहित वामाचार की क्रियाओं के अनुसार पूजन करते हैं। परन्तु यह बात अपने दूसरे अर्थ में गलत है, क्योंकि वामाचारी उपासक ब्रह्मचारी भी होते हैं। वामाचार का अर्थ बायाँ मार्ग है। इसका अर्थ बुरा नहीं है। स्वयं साधक ही अपने को इसी नाम से अभिहित करते हैं। अतएव यह सम्भव नहीं है कि वे अपना नामकरण ऐसा करेंगे, जिससे उन्हीं की निन्दा हो। वे लोग इस शब्द के प्रयोग से यह अर्थ लेते हैं कि यह आचार दक्षिणाचार के प्रतिकूल है। कहा जाता है कि दक्षिणाचार का साधक चाहे जैसी सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर ले, तो भी कोई न कोई उससे ऊपर बना ही रहता है, परन्तु वामाचार में यह बात

नहीं है। उसके साधक की सर्वोच्च सिद्धि यही है कि व
स्वयं सम्राट् हो जाता है।

इसके सिवा यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जि
देवी की उपासना वाममार्गानुयायी करते हैं, वह शिव
वामाङ्ग में स्थित है। कापालिक, कालमुख, पाशुपत, भांडिके
दिगम्बर, अघोर, चीनाचारी और साधारणतया कौल लो
ही वामाचारी होते हैं। इनमें से किसी किसी की, विशे
करके कौलों की, उच्च श्रेणी के विभागों की उपासना पञ्च
तत्वों के सहित होती है। कोई कोई ब्रह्मचर्य धारण करते है
जैसे कि अघोर और पाशुपत। परन्तु ये लोग मद्य-पान औ
मांसभक्षण करते हैं। मुझे मालूम हुआ है कि कुछ वाम
चारी ब्रह्मचर्य-व्रत कभी नहीं भङ्ग करते। औघड़ साधु, बटु
भैरव के उपासक, कन्थाधारी और गोरक्षनाथ, सीताना
तथा मत्स्येन्द्रनाथ आदि नाथों के अनुयायी पूर्वोक्त कोटि
गिने जाते हैं। नीलक्रम में मैथुन सर्वथा वर्जित है। कि
किसी सम्प्रदाय में भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियाओं का प्रचार है
मुझे ज्ञात हुआ है कि कालमुख लोगों में से कालवीर केव
नौ वर्ष तक की कुमारिका का पूजन करते हैं, पर काममोह
युवा शक्तियों के साथ पूजन करते हैं।

मुझे बतलाया गया है कि वामाचार-सम्प्रदाय के कुछ
कोटि के साधक मद्य-मांस नहीं ग्रहण करते। कहा जाता है
नदिया के प्रसिद्ध वामाचारी साधक राजा कृष्णचन्द्र
छिन्नमस्ता मूर्ति के उपासक हैं, मद्य का संग्रह नहीं करते
इस प्रकार के साधक वामाचार की प्रारम्भिक कक्षा को अति
क्रम कर जाते हैं। साधारणतया साधकों के सम्बन्ध में
बात मध्यस्थ कौलों के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाकालसंहिता में कही

है उसे अच्छी तरह याद रखना चाहिये। इस ग्रन्थ के 'शरीर-योगकथनम्' नामक ११ वें उल्लास में लिखा है—"कुछ कौल ऐसे हैं, जो इहलोक के सुख की ही कामना करते हैं (एहिकार्थ-धृतात्मनः)। इसी प्रकार वैदिक लोग भी इहलोक के सुख का उपयोग करते हैं। (एहिकार्थम् कामयन्ते)। परन्तु ये लोग मुक्ति की ही कामना नहीं करते (अमृते रतिं न कुर्वन्ति)। मुक्ति केवल निष्काम कामना के द्वारा ही प्राप्त होती है।"

पञ्चतत्त्व भी तीन प्रकार के कहे गये हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुकल्प और (३) दिव्य। प्रत्यक्ष पञ्चतत्त्व से मतलब तो वास्तविक वस्तुओं से है, पर अनुकल्प और दिव्य का मतलब दूसरा ही है। अनुकल्प तत्त्वों से शाकभोजी तक न परहेज करेगा, क्योंकि उनमें मांस के स्थान में अदरख और मद्य के स्थान में नारिकेल-जल ग्रहण किया जाता है। दिव्य तत्त्वों की बात तो इन दोनों से भी भिन्न है। दिव्य-तत्त्व योग-सम्बन्धी क्रियाओं के चिह्न-मात्र हैं। इनसे वास्तविक वस्तुओं तथा क्रियाओं का कुछ भी मतलब नहीं।

इसके सिवा कुछ विचार तथा क्रियाएँ ऐसी भी हैं, जो अधिक साधारण हैं, पर कुछ ऐसी भी हैं, जो और अधिक उग्र हैं। भैरवी और तत्त्व-चक्रों का जो विवरण महानिर्वाण-तन्त्र में लिखा है, उसकी तुलना किसी अधिक उच्छृङ्खल प्रथा ही से की जा सकती है। इनमें भैरवी-चक्र का सादृश्य एक आधुनिक चक्र से प्रकट किया जा सकता है। इस चक्र का उल्लेख जगद्बन्धु मैत्र-रचित विजयकृष्ण गोस्वामी की जीवनी के १३ वें अध्याय में किया गया है। उसमें लिखा है कि तान्त्रिक सिद्ध ने एक चक्र किया था, जिसमें गोस्वामी

जी स्वयं उपस्थित थे, उन्होंने शक्ति को उस माता के सदृ माना, जिसने उन्हें तथा देवताओं को उत्पन्न किया है जिन देवताओं का आवाहन चक्रेश्वर ने किया था, उन्हों चक्राकार पंक्ति में प्रकट होकर भोग को ग्रहण कि था। चाहे यह बात एक सच्ची घटना के रूप में मानी जा या न मानी जाय, पर यह तो स्पष्ट है कि एक प्रकार के च का वर्णन करने के उद्देश्य से इस बात का उल्लेख कि गया है। यह चक्र उन चक्रों से सर्वथा भिन्न है, जिन सम्बन्ध में हम प्रायः सुना करते हैं।

तन्त्र-शास्त्र की कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिन्हें हम ठीक-ठी नहीं समझते। उसके कुछ ऐसे सिद्धान्त भी हैं, जो सव साधारण की समझ में नहीं आ सकते, क्योंकि उनके यथ तथ्य समझने के लिये ज्ञान के सिवा अवर्णनीय भाव के हो की भी आवश्यकता है। भाव के अस्तित्व से उनका अ अपने आप ही समझ में आ जाता है। पर भावना-द्वारा प्रा इस प्रकार का अनुभव शब्दों-द्वारा नहीं व्यक्त किया ज सकता।

तन्त्र-शास्त्र में कुछ ऐसे कथन भी हैं, जिनका वैसा अ नहीं है, जैसा उनके शब्दों से झलकता है। उदाहरण के लि गो-मांस-भक्षण का अर्थ गाय का मांस खाना नहीं है, कि उसका अर्थ जिह्वा को गल-द्वार पर टेकना है। विधवा सहयोग का तात्पर्य कुण्डली-योग से है। इसी तरह दूस कथनों के अर्थ समझने चाहिये। यदि सच पूछा जाय, शास्त्रीय सिद्धान्त और उनकी क्रियाओं में कोई भेद नहीं कि जाता और न क्रियाओं के उपकरणों के अभाव से ही उप सना में कोई न्यूनता मानी जाती है। यह बात समझ लेन

सरल है कि यदि हिन्दू-धर्म का पतन हुआ, तो ऐसी ही बात में। परन्तु यह अनुमान करना भूल है कि इन क्रियाओं का एकमात्र उद्देश्य भोग-विलास है। और न यही बात है कि भोग-विलास ही के लिये लोगों को तान्त्रिक होना आवश्यक है। सारांश यह है कि भ्रम-पूर्ण विवेचना की अपेक्षा वास्तविक बातों को जानना कहीं श्रेष्ठतर है।

भारत तीन क्रान्तों या भौगोलिक विभागों में विभाजित है। मोटे हिसाब से पूर्वोत्तरी भाग विष्णु-क्रान्त, पश्चिमोत्तरी रथक्रान्त और अवशिष्ट तथा दक्षिण भाग अश्वक्रान्त कहलाता है। शाक्त-मङ्गल और महासिद्धार तन्त्रों के मत से विष्णुक्रान्त (जिसमें बाल शामिल है) विन्ध्य पर्वत से चट्टल या चटगाँव तक फैला हुआ है। विन्ध्याचल से तिब्बत और चीन तक का भू-भाग रथक्रान्त है। इन दोनों तन्त्रों में अश्वक्रान्त की स्थिति के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत मतभेद है। शाक्त-मङ्गल के मत से अश्वक्रान्त विन्ध्याचल से लेकर समुद्र तक है, जिसमें अवशिष्ट सारा भारत और ईरान तक के सारे देश शामिल हैं। दूसरे तन्त्र के मत में अश्वक्रान्त करतोया नदी से लेकर एक ऐसे स्थान तक फैला हुआ है, जिसका कुछ भी पता नहीं लगता। मूल में जो नाम दिया हुआ है, उससे किसी आधुनिक नाम से तारतम्य नहीं मिलता, परन्तु हम उसे जावा कह सकते हैं। इनमें से प्रत्येक क्रान्त के लिये चौंसठ तन्त्र निर्दिष्ट किये गये हैं।

शाक्त-विभाग में केरल, काश्मीर, गौड़ और विलास नाम के चार सम्प्रदाय हैं। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय में बाह्य और और अन्तरङ्ग दोनों प्रकार की उपासनाओं का प्रचलन है। इन चारों सम्प्रदायों का उल्लेख सम्मोहन तन्त्र में हुआ है।

उसमें केवल प्रथम तीन सम्प्रदायों ही के तन्त्रों के नाम न दिये गये हैं, किन्तु चीन और द्राविड के भी।

प्रत्येक सम्प्रदाय की पद्धतियाँ होती हैं। ये शुद्ध, उग्र कहलाती हैं। देवताओं और आचारों में भी भिन्न है। तान्त्रिकों में विभिन्न मत भी होते हैं। उनमें से एक का न कादिमत है। यह विरादनुत्तर—कहलाता है। इसका देव त्रिपुरसुन्दरी है। कहादिमत इन दोनों के मिश्रण से बना है इसका देवता तारा अर्थात् नील सरस्वती है। कुछ देश का हादि, कहादि देश कहलाते हैं। प्रत्येक मत के कई आम्नाय होते हैं। लिखा है कि हंसतारा महा-विद्या योगेश्व है। इसे जैन पद्मावती, शाक्त शक्ति, बौद्ध तारा, चीम साध महोग्रा और कौल चक्रेश्वरी कहते हैं। कादि लोग इसे का हादि श्रीसुन्दरी और कादि-हादि हंसा कहते हैं।

गौड़-सम्प्रदाय कादि मत को सर्वोच्च समझता है काश्मीर तथा केरल सम्प्रदाय त्रिपुरा और तारा को पू हैं। सम्भव है, पूर्वोक्त नामधारी देश वास्तव में कभी रहे और उनमें विशेष तन्त्रों ही की उपासना का प्रचार रहा परन्तु पीछे की तथा आजकल की उनकी स्थिति देखकर बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती।

शाक्तधर्म की रूपरेखा

आधुनिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मनुष्य के जीवन में धर्म को सबसे अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है। तभी तो हम देखते हैं कि आज मानव समाज एक-मात्र धार्मिक विश्वासों के आधार पर कई समुदायों में विभक्त है। इनमें से कई समुदाय अपने-अपने धर्म के इतने अधिक आग्रही हैं कि उनके सदस्य बचपन से लेकर अपने धर्म की ही साँस लेते हुये अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे कट्टर धर्माग्रहियों में मुसलमानों का दर्जा सबसे ऊँचा है। इनके बाद पारसी, यहूदी, ईसाई, बौद्ध और जैन हैं। हिन्दू-समाज के सदस्यों की धार्मिक भावना में उतनी कट्टरता कभी नहीं रही है। बात यह है कि उनके समाज का संगठन धार्मिक विश्वास की अपेक्षा सामाजिक संस्कार के आधार पर हुआ है। हिन्दू को धर्म की दीक्षा मिलती अवश्य है। परन्तु वयस्क होने पर ही वह धर्म की दीक्षा ग्रहण करता है, वह बचपन से ही उपर्युक्त मानव-समुदायों के सदस्यों की तरह धर्म में दीक्षित कर धर्मान्ध नहीं बना दिया जाता है। हिन्दू को इस बात का पूर्ण अधिकार रहता है कि वह अपनी बुद्धि के अनुसार चाहे जिस धर्म का अनुयायी हो जाय। मुसलमानों, ईसाइयों आदि की तरह वह धार्मिक विश्वासों के बन्धनों से जकड़ा नहीं रहता। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि वह धार्मिक भावना से शून्य रहता है। वयस्क होने पर वह अपने सामाजिक संस्कारों के

अनुसार किसी न किसी धार्मिक विश्वास को ग्रहणकर
आत्मिक उन्नति करने का प्रयत्न करता है।

इसी बन्धनहीनता का यह परिणाम हुआ कि हिन्दू
कालान्तर में अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।
विश्वासों की बहुलता ने उनके सामाजिक बन्धन को
को धीरे-धीरे ढीला कर दिया। सामाजिक बन्धनों की
के कारण वे एक जाति के रूप में अवश्य संगठित रहे
धार्मिक विश्वासों की विभिन्नता ने उनमें अपने अलग
हित स्थापित कर दिये, जिससे उनकी एकता धीरे-धीरे
भिन्न हो गई। इसका जो भयानक परिणाम होना
वही होकर रहा। हिन्दू जाति पर जब-जब बाहरी आ
हुये, वह उनका सफलतापूर्वक इसी कारण सामना
सकी। यदि उनमें धार्मिक विश्वासों के कारण अ
होता और वे पहले की भाँति एक राष्ट्र के रूप में
होते, तो बाहरी आक्रमण उनका कुछ भी न बना-बिगाड़
परन्तु उनके दूसरों की तरह धर्माग्रही न होने के क
बाहरी आक्रमणों का समुचित मुकाबला न कर सके।
दो हजार वर्षों का हिन्दुओं का ऐसा ही इतिहास रहा है
दीर्घकाल में प्रारम्भ में उन्होंने अपने गौरव की र
लिये अपने शौर्य का कई बार अच्छा परिचय दिया
अन्त में वे ठहर नहीं सके। दूसरी सहस्री में उनका
पराभव हो गया। यहाँ तक कि उनकी राजनैतिक जीवन
का लोप सा हो गया और उनके सामाजिक संगठन में
सा लग गया। अपने इस दैन्यावस्था के काल में उन्हों
मात्र ईश्वर का ही सहारा लेना श्रेयस्कर समझा।
पुराने धार्मिक विश्वासों के साथ-साथ अनेक नये

ास पैदा करके धर्माचार्यों ने हिन्दू-जाति के जीवन बेड़े को
प्रारम्भ किया। प्राचीन वैष्णव, शैव व शाक्त आदि सम्प्र-
को देश-काल के अनुसार नया रूप दिया गया। परन्तु
ही अन्य साधु-सन्तों ने अपने नये नये मत चलाये। आज
-समाज में जो अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं, वे सब
के पराभव काल की नई सृष्टि हैं।

इस समय इन मत-मतान्तरों में वैष्णवों और शैवों की
नता है। इनके सिवा बहुत से सन्त-मतों में उदासी, कबीर-
और राधास्वामी अधिक प्रबल हैं। इस प्रकार
-समाज नाना मत-मतान्तरों में बंट गया है। वह किसी
धर्म का अनुयायी नहीं है। हाँ, किसी समय वह एक धर्म का
यायी था। और वह था वैदिक धर्म। परन्तु धार्मिक बन्धन
ने से हिन्दू अधिक काल तक वैदिक धर्म का आग्रह न
सके।

आज यद्यपि वैष्णव, शैव आदि अपने को वैदिक धर्मी
ते हैं, परन्तु विशुद्ध वैदिक कोई नहीं है। कहना चाहें,
यहाँ तक कह सकते हैं कि इस समय हिन्दुओं में जो
मिक विश्वास प्रचलित हैं, उनमें बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव,
और शाक्तों को छोड़कर सबके सब दसवीं सदी के बाद
हिन्दू-पराभवकाल के धार्मिक विश्वास हैं और दुःख की
यह है कि अधिकांश हिन्दू समाज इन्हीं धार्मिक
वासों के मानने का गर्व करता है। उनकी इस प्रवृत्ति के
ण उपर्युक्त प्राचीन छहों सम्प्रदायों की दशा अति दय-
हो गई है।

यदि १९ वीं सदी के मध्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती
आविर्भाव न हुआ होता, तो हिन्दू अपनी इस ईश्वर की

खोज की लालसा में आज कहाँ पहुँचे होते, यह यहाँ बताने क
जरूरत नहीं है। उस महान् बाल-ब्रह्मचारी ने मोहग्रस्त, भ्रा
तथा पथभ्रष्ट हिन्दू-जाति को ऐसी करारी ठोकर लगाई कि
वह सहसा चौंक पड़ी और उसने देख लिया कि उसका मा
किधर है। उस महर्षि ने वैदिक धर्म का ऐसा मोहक शंखना
किया कि सारी हिन्दू-जाति में नये जीवन का संचार हो गया
उसने सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सुधार की व्यव
स्थायें वैदिक संस्कृति के आधार पर निर्मित कीं। यह उन
महातपस्वी महर्षि के अनवरत घोर परिश्रम का सुपरिणा
हुआ कि सारी हिन्दू-जाति जाग उठी और उसे अपने कर्त्तव्य
का बोध हो गया। पिछले दिनों देश में जो छोटे बड़े तरह
तरह के आन्दोलन छेड़े गये और जिन्हें हिन्दू-जनता ने
दृढ़ता के साथ सफलतापूर्वक चलाया, उन सबको स्वामी जी
से ही प्रेरणा मिली था। परन्तु जब इन आन्दोलनों के फल
स्वरूप भारत को अपने एकमात्र लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' की
प्राप्ति हुई, तब सहसा कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उठ खड़ी हुई
जिनसे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस स्वाधीनता के फल-स्वरू
अपने धर्म और संस्कृति से भारत को तिलाञ्जलि दे देनी
पड़ेगी। प्रसन्नता की बात है कि इस भयानक परिस्थिति का ज्ञा
हमारे धर्माचार्यों को हो गया और वे अपने कर्तव्य का पाल
करने के लिए कर्तव्य-क्षेत्र में उपस्थित भी हो गए।

इस सम्बन्ध में यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है
यह परिज्ञान हमारे उन्हीं धर्माचार्यों को हुआ, जो वैदिक धर्म
आग्रही हैं। तभी हम वैष्णवों आदि को अपनी गतिविधि प्रक
करते हुए देख रहे हैं। और तो और, अपने को सदा छिपा
रखनेवाला शाक्त-धर्म भी आगे आता हुआ दिखाई दे रहा है

उसकी अपनी एक 'चण्डी' पत्रिका भी लगभग तीन दशकों से निकल रही है, जो शाक्तधर्म के संगठन और प्रचार की घोषणा प्रकट रूप से कर रही है।

वैष्णव, शैव तथा अन्य शास्त्रीय संप्रदाय काशी के प्रसिद्ध धर्मसङ्घ के साथ होकर उसके प्रवर्त्तक श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी महाराज) के नेतृत्व में सद्धर्म का देश में जो व्यापक प्रचार कर रहे हैं, उसका हिन्दू-समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। और उससे हिन्दुओं में धार्मिक जिज्ञासा ही नहीं जाग्रत हुई है किन्तु उनमें अपनी प्राचीन संस्कृति का प्रेम भी बढ़ चला है। हिन्दू सदैव बुद्धिवादी रहे हैं। उन्हें अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये और देखना चाहिये कि उनके धर्म और समाज के गुरु आज उनसे क्या चाहते हैं और क्यों चाहते हैं ? उनके धर्म और उनकी संस्कृति की ओर उनके देश की आज उनसे क्या माँग है ? और उनका क्या कर्त्तव्य है ?

+ + + +

शाक्तधर्म का प्रचार

कुछ लोगों का कहना है कि शाक्तधर्म कभी प्रचार का धर्म नहीं रहा है। यह धर्म कुछ विशेष अधिकारियों को ही प्राप्त होता रहा है, जो गुप्त रीति से इसकी साधना करके अपना कल्याण-साधन करते रहे हैं। यही कारण है कि इस प्रचार-युग में भी शाक्त-धर्म का कहीं भी प्रचार होता हुआ नहीं दिखाई दे रहा है। परन्तु उपर्युक्त बात ठीक नहीं जान पड़ती।

जिन्होंने तन्त्रग्रन्थों का थोड़ा भी अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि बौद्ध धर्म के पहले समग्र दक्षिण-पूर्वी एशिया-खंड

में एकमात्र शाक्त-धर्म ही का व्यापक प्रचार था। तन्त्रग्रन्थों में यह विशाल भूखण्ड अश्वक्रान्त, विश्वक्रान्त और रथक्रान्त इन तीन क्रान्तों में बाँटा गया है। और प्रत्येक क्रान्त के लिए अलग-अलग तन्त्रग्रन्थ निर्दिष्ट किए गये हैं, जिससे उन क्रान्तों में उन-उन ग्रन्थों के अनुसार यजन-भजन हो।

अपने भारत के सम्बन्ध में लिखा मिलता है कि यहाँ तान्त्रिक धर्म-व्यवस्था काश्मीर, गौड़ और केरल सम्प्रदायों में विभक्त हो गई थी। यही नहीं, सारे देश को ५० प्रदेशों में बाँट कर यह भी बता दिया गया है कि अमुक-अमुक देश अमुक-अमुक सम्प्रदाय में रह कर अपना यजन-भजन करे।

इन बातों से यही प्रकट होता है कि पहले शाक्तधर्म का अवश्य प्रचार था और सो भी अति व्यवस्थित रूप से। बौद्धकाल में तथा उसके बाद के काल में अन्य धर्मों के प्रचार-कार्य के आगे, जान पड़ता है, शाक्तों का प्रचार-कार्य नहीं चल सका और उन्हें अपनी रक्षा के लिये लाचार होकर गोपनीयता का बाना धारण करना पड़ा, जिससे उनका सारा प्रचार-कार्य बन्द हो गया। साथ ही उनका सङ्गठन भी टूट गया और यही दशा सदियों से बराबर चली आई। ऐसी दशा में यदि शाक्त-धर्म के आचार्य यह कहते फिरें कि शाक्तधर्म प्रचार का धर्म नहीं है, तो यह उनके अज्ञान का ही द्योतक है।

यदि शाक्तधर्म धर्म है, तो उसका प्रचार होना चाहिये और सुव्यवस्थित रूप से होना चाहिये। यह कहना भी कि देश में इने-गिने शाक्त हैं, एक मिथ्या कथन है। सारे देश में शाक्त एक बहुत बड़ी संख्या में निवास करते हैं। हाँ, उनकी अपनी कोई संस्था अवश्य नहीं है, जिससे उनके व्यापक

अस्तित्व का पता चलता। ऐसी दशा में इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि शाक्त लोग भीरुता को छोड़कर प्रकाश में आयें और अपना संगठन करके अपने धर्म को पुनः पहले की सी महानता प्रदान करें। ऐसा करने से उनका भी कल्याण होगा और संसार का भी।

प्रसन्नता की बात है कि प्रयाग में गत अनेक वर्षों से शाक्त-सम्मेलन नाम की एक संस्था स्थापित है, जिसका उद्देश्य शाक्तों का सङ्गठन तथा शाक्त-धर्म का प्रचार करना है। इसकी अपनी 'चण्डी' नाम की एक मासिक पत्रिका भी निकलती है। मैं इस पत्रिका को प्रारम्भ ही से पढ़ता रहा हूँ। इसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि उक्त संस्था अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में आवश्यक सफलता नहीं प्राप्त कर सकी है। वास्तव में यह संस्था अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है और इसे अपने प्रयत्न में जल्दी सफलता भी नहीं मिल सकती है। इसका कारण यह है कि शाक्तों का, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सङ्गठन सदियों से टूटा पड़ा है।

इसके सिवा एक यह बात भी है कि उनके 'गोपनीयता' के सिद्धान्त ने उनमें इतनी अधिक अकर्मण्यता भर दी है कि वे सब कुछ जानकर भी जानना-बूझना नहीं चाहते। उन्होंने अपने प्रिय शाक्त-धर्म को इतना सकुचित रूप दे दिया है कि वह अब घर की किसी एकान्त कोठरी में बैठकर साधना करने भर तक सीमित रह गया है। वे इस बात को भूल गए हैं कि उनका यही शाश्वत धर्म किसी समय विशाल भारत का एक व्यापक जीवित धर्म ही नहीं था, किन्तु वही उसका सब कुछ था। परन्तु सदियों विरोधियों की मार खाते खाते आज का हमारा शाक्त-समाज अत्यधिक छिन्न-भिन्न ही नहीं हो गया

है, किन्तु निर्जीव भी हो गया है। अतएव इसमें पुनः जीवन
सञ्चार करने के लिए घोर साधना की आवश्यकता है। इसके
लिए शाक्त-धर्माचार्यों तथा शाक्त-साधकों दोनों ही को अत्यधिक
सहयोग के साथ काम करना पड़ेगा। तब कहीं शाक्त-समाज
में जागरण के चिह्न दिखाई देंगे।

गोपनीयता के सिद्धान्त को ग्रहण करके शाक्तों ने अपने
हाथों से अपने पैर पर कुल्हाड़ी मार ली। इसी गोपनीयता ने
उन्हें आज कहीं का न रखा। इतना ही नहीं, उसने उन्हें काय
बना दिया है—उनको, जो अपने को वीरोपासक बताकर ग
का अनुभव करते हैं। हम आये दिन देखते रहते हैं कि
विरोधी लोग उन पर तथा उनके धर्म पर छींटे उड़ाया करते
हैं और वे कायर की भांति उनका कोई समुचित उत्तर न देक
उनके सामने खड़े-खड़े ही-ही किया करते हैं, यह कितना उप
हासास्पद दृश्य है! परन्तु इसका हमारे शाक्त वन्धुओं पर को
प्रभाव नहीं पड़ता। जीवित होते हुये भी वे एक निर्जीव क
तरह यह सब देखते और सहते रहते हैं। यदि आज उनक
सङ्गठन होता, उनकी व्यवस्थित संस्थायें होतीं, उनके पत्र
पत्रिकायें निकलती होतीं, उनके धर्म के साहित्य का लोक-भाष
में प्रचार हुआ होता, तो उनकी ओर आज की तरह देख
या कटाक्ष करने का किसी को साहस न होता, वरन् सभी न
मस्तक होते हुये ही दिखाई देते। शाक्त-धर्म किसी खेत क
गाजर-मूली नहीं है, जो उखाड़ कर फेंक दी जाय। इसकी ज
पाताल तक गई है। इसके प्रवर्तक प्रलयंकर सदाशिव हैं। य
कारण है कि वह आज भी सारे देश में पहिले ही की तर
विद्यमान है। निस्सन्देह उसके अनुयायी काल के प्रभाव
व्यामोह में पड़ गये हैं और इतस्ततः हो गये हैं। बुद्धिवादि

के चलाये हुये नये नये मत-मतान्तरों के मुक्ति दिलानेवाले सरल नुस्खों के फेर में वे भी पड़ गये हैं। उन्हें चाहिये कि वे इस प्रलोभन से विमुख हों और अपनी शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करें। तभी उनका कल्याण होगा और उनके गौरव की वृद्धि होगी।

प्रयाग की उक्त संस्था से देश के उद्बुद्ध शाक्त-साधकों को हृदय से पूर्ण सहयोग करना चाहिए और उसकी मासिक पत्रिका 'चण्डी' के प्रचार के लिए भी सभी शाक्तों को सावधानी के साथ प्रयत्न करना चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न स्थानों के उत्साही शाक्त-बन्धु इस महत्वपूर्ण सत्कार्य को अपने हाथों में ले लें, तो हम देखेंगे कि उक्त संस्था का मनोरथ कितनी जल्दी सिद्ध हो रहा है। यदि हमारे शाक्त इस महत्व की बात को हृदयङ्गम नहीं करेंगे और उदासीन भाव से केवल दर्शक ही बने रहेंगे तो उक्त संस्था क्या—कोई भी संस्था शाक्तों का सङ्गठन क्या, शाक्त-धर्म का प्रचार करने में कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगी। यदि हम चाहते हैं कि शाक्तों का सङ्गठन हो, हमारे प्रिय शाक्त-धर्म का प्रचार हो, तथा वह पहले ही की भाँति महत्व प्राप्त कर देश के विशाल जन-समुदाय को शक्तिशाली बनावे, तो हमें बद्ध-परिकर होकर उक्त संस्था से पूर्ण सहयोग करके अपने कर्तव्य का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे शाक्त-बन्धु—वे बन्धु; जो सचमुच ही कुछ करना चाहते हैं, हमारे उपर्युक्त कथन को निवेदन के रूप में स्वीकार कर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होंगे।

सहयोग से हमारा अभिप्राय यह है कि जहाँ जहाँ शाक्त-बन्धु अधिक संख्या में हों, वहाँ वे अपना सङ्गठन करें, अपनी एक सभा स्थापित करें, अपनी स्थानीय सभाओं की मासिक

बैठकें कर धर्म का प्रचार करें तथा उन्हें जो धर्म-सम्ब न्ध सुविधाएँ हों, उनकी सूचना प्रधान संस्था को दें। इ सिवा उक्त संस्था की मुख-पत्रिका 'चण्डी' का यथा सम्भव घर प्रचार करें एवं प्रधान संस्था के धर्म-सम्बन्धी उद्देश्य पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यवाही करें। ऐसी स्थानीय स जितनी ही अधिक संख्या में हम बनाने में सफल होंगे, उ ही अधिक हमें यह समझना चाहिए कि हम सम्मेलन उद्देश्यों की पूर्ति का कार्य कर रहे हैं तथा उसके सत्प्र को सफल बना रहे हैं।

+ + + +

शाक्तधर्म और वर्णाश्रम धर्म

इस बात में तो कोई संदेह है ही नहीं कि सनातन व श्रम धर्म पूर्ण वैज्ञानिक है और शाक्त वैष्णव धर्मादि अन्तर्गत ही हैं। हम अपने सारे कार्य-कलाप वर्णाश्रम-नि का पालन करते हुये ही करते हैं। यहाँ तक तो बात ठी परन्तु जब प्रचलित वर्णाश्रम धर्म की ओर दृष्टि जाती हृदय क्षुब्ध हो उठता है।

आज कालचक्र की अनिवार्य परिवर्तनशीलता के प्र से ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों में जैसी अवस्था फैली हुई है, वह से छिपी नहीं है। स्पर्शास्पर्श और ऊँच-नीच की भाव जो रूप आज ग्रहण किया है और जिसके फलस्वरूप समय समाज के मजबूत चार आधार-स्तम्भों के समान रखनेवाले प्रसिद्ध चारों वर्ण परस्पर द्वेष-विद्वेष की भा में पूर्ण-रूप से गोते खा रहे हैं, वह क्या हमारे उक्त वर्णा धर्म की विशिष्टता है ? कदापि नहीं। उस वर्णाश्रमध

जिसने सेवाधर्म को सबसे उत्कृष्ट माना है, क्या सेवा-वृत्ति-प्रधान शूद्रवर्ग को घृणित कभी ठहराया है ? मेरा विश्वास है, कभी नहीं। आज जो ऊँच-नीच की क्षुद्र भावना इतना अधिक उथल-पुथल मचाये हुये है, उसकी ओर वर्णाश्रम धर्म की कभी भी प्रवृत्ति नहीं थी। उसका तो लक्ष्य ही था—वसुधैव कुटुम्बकम्।

वास्तव में यह सब बाद के परिवर्तन हैं। एक नहीं, न मालूम कितने विचार हम लोग आज भी वर्णाश्रम धर्म के नाम से अपनाये हुये हैं और उनके अस्तित्व के लिए परस्पर लड़ते-भिड़ते रहते हैं। शाक्त-वैष्णवादि धर्मों के जो आदि महात्मा हो गये हैं, यदि उनके आदर्शों का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया जाय तो यही देखने को मिलेगा कि उनका उद्देश्य इसी भ्रान्ति को दूर करना था, जिसके चक्कर में पड़कर चारों वर्ण पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध को भूलकर छूत-छात और ऊँच-नीच की पतित भावना से अपने हाथों ही अपने प्रिय वर्णाश्रम धर्म को हानि पहुँचा रहे थे।

उदाहरण-स्वरूप शाक्तों के भैरवीचक्र और वैष्णवों की सत्यनारायण कथा का एक यह भी लक्ष्य है कि उस प्रसङ्ग में ब्राह्मणादि चारों वर्ण पारस्परिक समान भाव को अनुभव करने में सर्वदा सक्षम रहें। सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणादि अवश्य अपने-अपने स्थान पर हैं किन्तु साधना-मार्ग में सब एक हैं। ब्राह्मण और शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय सभी उसमें परस्पर बन्धु के नाते से बँधे हैं। परन्तु क्या आज इस नाते का जैसा चाहिये, वैसा अनुभव किया जा रहा है ? नहीं।

इसलिये आज इस बात की भारी आवश्यकता है कि सारे देश में स्थान-स्थान पर अधिकारानुसार भैरवी चक्र तथा कथा-

सभाएँ आयोजित हों और उनमें ब्राह्मणादि सभी वर्ण सम
भाव से साथ-साथ भाग ग्रहण करें। तभी वर्णाश्रम धर्म
असली भावना हमारे सम्मुख आ सकेगी। और शाक्त
इसी असली भावना को सामने करके वर्णाश्रम-
को पुनः उसका पूर्व-गौरव प्रदान करने में समर्थ हो सक
है।

शाक्त का दृष्टिकोण

भारतवर्ष सदैव धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ के नि
सियों का जीवन-ध्येय धर्ममय जीवन ही रहा है। सांसा
होते हुये भी उनका लक्ष्य बराबर अध्यात्म ही रहा है।
कारण है कि आज के अधार्मिक काल में भी भारतवर्ष में
की भावना पहले की ही भाँति प्रबल बनी हुई है।
वैष्णव सम्प्रदाय का प्राबल्य है, तो कहीं शैव सम्प्रदाय
जहाँ ये दोनों नहीं हैं, वहाँ सन्तमत का झण्डा फहरा रहा
परन्तु यह सब वैदिक धर्म का हो, वह चाहे जिस रूप का
सर्वत्र बोलबाला ही दिखा रहा है।

कुछ लोगों का कहना यह है कि यह सब तो जरूर है पर
वैदिक धर्म का लोप हो गया है। वैदिक धर्म का हिन्दू जन
के कुछ अंश में संध्या, गायत्री, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि
श्राद्ध आदि में ही कुछ अस्तित्त्व पाया जाता है। अब
उसके द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति, सो उस प्रकार का कोई वै
साधन करते हुये लोग नहीं पाये जाते। जो लोग ऐसा वि
रखते हैं, उनका वैसा विचार संकुचित दृष्टि का द्योतक है।

वास्तव में वैदिक धर्म आज भी पहले की ही भाँति वि
मान है। हम तो यह कहने का साहस करेंगे कि वह पहले

भी अधिक व्यापक रूप में विद्यमान है। ये बहुशाखायुक्त वैष्णव सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय व सन्तमत आदि सभी उसी के बाल-बच्चे हा हैं। इसके सिवा वह स्वयं भी अपने मूल रूप में विद्यमान है और अपने इन बाल-बच्चों का भरण-पोषण करता चलता है।

उपर्युक्त विचार रखनेवाले सज्जन यह बात कैसे भूल जाते हैं कि सत्ययुग में वैदिक धर्म यज्ञ-प्रधान रहा, त्रेता में वह तप-प्रधान हो गया, द्वापर में वह दान-प्रधान हुआ और कलियुग में वहा नामजप-प्रधान हो गया है। और उसी नामजप-धर्म को निगमागमों ने बीजों को प्रधानता देकर जो वैज्ञानिक रूप दिया है, उससे वैदिक धर्म का महत्व इतना अधिक बढ़ा है कि आज वह सबके लिये सुलभ हो गया है। और यह एक सीधी-सादी बात है कि साधारण-से-साधारण आदमी भी चाहे, तो इसे सरलता से हृदयंगम कर सकता है, परन्तु आज की दुनियाँ अविद्याग्रस्त है। अतएव लोग इच्छा रखते हुये भी इस सरल बात के समझने के लिये ध्यान तक नहीं देना चाहते। उल्टा उसकी निन्दा करने को विशेष रूप से तैयार रहते हैं। ऐसे लोग कहते सुने जाते हैं कि निगमागम तो वाममार्गियों के धर्मग्रन्थ हैं और वाममार्ग अवैदिक है।

इन महानुभावों से कोई पूछे कि आखिर ये तुम्हारे सम्प्रदाय तथा मत कहाँ से आ गये, तो बगलें झाँकने लगते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनके सम्प्रदाय या मत की उपासना या ध्यान-धारणा-विधि उनके आचार्यों ने सबकी सब ही नहीं, ज्यों की त्यों एकमात्र आगम ग्रन्थों से ही ली है। ऐसी दशा में वे क्या उत्तर दें ! परन्तु शाक्तधर्म के आगम-वादी होने के कारण वे अपने को आगमवादी कहने से झिझकते हैं। वे

शाक्तों को फूटी आँख भी देखना पसन्द नहीं करते। आखिर शाक्तों का अपराध क्या है ?

यही कि शाक्तों ने उनकी तरह देश-काल के दबाव में पड़कर अपने धर्म के सिद्धान्तों में फेर-फार नहीं किया। वे अपने सिद्धान्तों पर अटल और अचल रहे। उन्होंने प्राचीन वैदिक संस्कृति को अपनाये रखना श्रेयस्कर समझा। वे इस बात को नहीं भूले कि उनके निगमागम भी ईशवाणी हैं। वे यह भी जानते रहे कि उनका धर्म धर्म है। वह किसी आचार्य के द्वारा चलाया न तो कोई सम्प्रदाय है और न किसी मन्त के द्वारा चलाया हुआ कोई मत-मतान्तर ही है। किन्तु वह प्राचीन वैदिक धर्म है, जो युगानुसार नाम-जप की प्रधानता के रूप में इस प्रकार विकसित हुआ है। और यही कारण है कि आगमवादी शाक्त लोग न तो किसी सम्प्रदाय की निन्दा करते हुये पाये जाते हैं और न किसी मत-मतान्तर की ही, क्योंकि वे उन्हें अपने अर्थात् वैदिक धर्म के कच्चे-बच्चे समझते हैं। और यही क्यों, वे इनके अतिरिक्त अन्य मत-मतान्तरों की भी निन्दा करना ठीक नहीं मानते। उनका दृष्टिकोण ही ऐसा है। और इसी कारण उन्होंने अपना कोई अलग सङ्गठन भी नहीं किया है। वे सारी हिन्दू जाति को आगमधर्मानुयायी देखते और मानते हैं, जो वास्तव में है। और यही शाक्तों की महत्ता का द्योतक है।

\+ \+ \+ \+

शाक्तधर्म का सन्देश

[१]

शाक्तधर्म के अनुसार सभी मनुष्य परस्पर बन्धुत्व-भावना के दृढ़ सूत्र में बंधे हुए हैं। उस जगज्जननी परा शक्ति की ही

सब सन्तान हैं। अतएव सब भाई-भाई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वैष्णवादि अन्य धर्म भी मनुष्यों में भ्रातृत्व-भाव का ही विशेषतया प्रतिपादन करते हैं। परन्तु वे व्यावहारिक रूप में इस दिशा में कोई ठोस कार्य-प्रणाली प्रस्तुत नहीं करते हैं। वे जनता में भाईचारा स्थापित करने का प्रयत्न तो करते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से! फल यह हुआ है कि उन्हें अपने कार्य में सफलता नहीं ही प्राप्त हुई और हिन्दू-समाज की वर्ण-व्यवस्था, जो किसी दिन हिन्दुओं को उन्नत से उन्नत अवस्था में पहुँचानेवाली सिद्ध हुई थी, आज हिन्दू जाति के पराभव का मूल कारण बताई जाती है।

इस सम्बन्ध में यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अन्य धर्मों के समान शाक्तधर्म भ्रातृत्व भावना का प्रतिपादन करके ही नहीं रह गया, अपितु उसने एक व्यावहारिक योजना शाक्तों के सामने रखी, जिससे शाक्त लोग एक दूसरे को बन्धु के रूप में देख सकें। आज भी वैष्णव द्विज और शूद्र वैष्णव में, समान धर्मानुयायी होते हुए भी, भेद-भाव और ऊँच-नीच का भाव विद्यमान है, जब कि शाक्तबन्धुओं में ऐसी कोई बात नहीं है।

आगम में कहा है कि चक्रार्चन में सहयोग करनेवाले सभी वर्ण समान हैं। यहाँ तक कि चाण्डाल ब्राह्मण के समक्ष उसके समान या कभी कभी उससे बढ़कर माना गया है। और आगम का यह सन्देश शाक्त समाज में केवल 'पोथी की बात' नहीं है, अपितु उसे कर्म का रूप दिया गया है। शाक्तों की मूल धारणा यह होती है कि प्रत्येक व्यक्ति शिव रूप है। और तब परहेज कैसा ? श्रीजगन्नाथ जी में प्रसाद ग्रहण करने की जो निश्चित प्रणाली है कि बिना वर्ण-भावना के भोजन

किया जाय, उसमें शाक्तधर्म का यही भाव विद्यमा है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि शाक्तधर्म की बन्धुत्व-भाव का आदर्श कितना ऊँचा है। और यह भी निश्चित है कि ऐ आदर्श के अनुकरण से हिन्दू-समाज की वर्ण-व्यवस्था कै सुखदायिनी रह सकती है। हम तो यहाँ तक कहने को तैय हैं कि शाक्तधर्म ही वस्तुतः एक ऐसा धर्म है, जिसके प्रचार सम्प्रदाय अथवा वर्ण-गत भेद-भाव का मूलतः उन्छेदन सकता है। यह कहते हुए हमारा यह कर्तव्य है कि यह भी स्प कर दिया जाय कि इस उक्ति से हमारा तात्पर्य यह कदापि न है कि कोई धर्म हेय है।

धर्म तो अपने नाम ही से सिद्ध करता है कि वह मानवों लिए मंगल का साधन है। सभी धर्मों के उच्च सिद्धान्त मूल एक से ही हैं। मनुष्य के विचार सदा एक से नहीं रहते समय परिवर्तनशील है, एक युग जाता है और दूसरा यु आता है। इस वर्तमान कलियुग में केवल शाक्तधर्म ही मान का निस्तार कर सकता है। और अपने धर्म के इस मह को संसार-विदित करने के लिए शाक्त-समाज को संगठि होना ही होगा। उसे बता देना होगा कि शाक्त-धर्म क्या शाक्त क्या कर सकता है और शाक्त के आदर्श कितने पवि और ऊँचे हैं। शाक्तों को बंधुत्व-भावना संगठित करनी होगी सहोदर के लिए जैसे मनुष्य प्राण तक दे देने को उद्यत हो है, वैसे ही पारस्परिक हित के लिए आत्म-बलिदान करने लिए सदा प्रस्तुत रहना होगा।

बन्धुत्व-भावना को विकसित करने के साथ साथ शा धर्म सन्देश देता है कि संसार की शक्ति—'नारी' को पूज्यत

दृष्टि से देखो। उस पराशक्ति की झलक यदि देखी जा सकती है तो केवल नारी में। शक्ति के बिना शिव 'शव' रूप है, इसका सच्चाई सांसारिक नर-नारी के सम्बन्ध पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। वही भावना इनके साकार रूप में दिखाई देती है।

नारी का माता-रूप न हो, तो नर का नाम ही न रहे, पत्नी-रूप न हो, तो नर को संसार में आकर्षण ही न रहे और यदि नारी न हो तो दया, करुणा, सहानुभूति आदि मानवोचित गुणों का जन्म ही न हो। कौन कह सकता है कि नारी शक्ति में उस परमा शक्ति का आभास नहीं है ?

अतएव शाक्तधर्म का संदेश है कि प्रत्येक नारी को पूज्य दृष्टि से देखो। यहाँ भी कहना पड़ता है कि अन्य धर्मों में नारी को पूज्य मानते हुए भी व्यावहारिक रूप से उसे 'पूज्य' का स्थान नहीं दिया गया है। दूसरी ओर शाक्त धर्म प्रत्यक्षतः व्यावहारिक रूप से उसका पूजन कर जगदम्बिका के अंशभूत रूप में उसका सम्मान करता है। शाक्तधर्म की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि उसके सिद्धान्तों का अपना व्यावहारिक मूल्य होता है, केवल थोथा दार्शनिकवाद ही उसमें नहीं है।

[२]

शाक्त-धर्म की अपनी अनेक विशेषतायें हैं और वे सभी अपने अपने क्षेत्र में अपूर्व हैं, तथापि उनमें से उसकी एक विशेषता सबसे अधिक विलक्षण है। वह है किसी के भी मार्ग में बाधक न होना, साथ ही अपने अस्तित्व को भी बराबर बनाये रखना। उसकी इस विलक्षणता का मूल कारण यही कि उसमें दुराग्रह का कभी कोई स्थान ही नहीं रहा है। इसी

से आज भी शाक्त-धर्म का अस्तित्व बराबर बना हुआ है यही नहीं, वह बराबर फल-फूल भी रहा है। यद्यपि उस उन्मूलन कर देने का प्रयत्न सदैव होता रहा, परन्तु उस कभी बाल बाँका नहीं हो सका। उसके किसी के मार्ग में बा न होने के सद्गुण ने सदा उसकी ढाल का ही काम कि और वह अपनी इसी ढाल से विरोधियों के प्रहारों को सा निष्फल करता रहा है।

हम देखते हैं कि उसकी यह विशेषता अन्य विशेषताओं साथ उसमें आज भी विद्यमान है और जब तक उसमें एक बात बनी रहेगी, तब तक वह पहले ही की तरह अ अमर बना रहेगा। यह सच है कि उसका अपना सङ्गठन भिन्न हो गया है। सदियों के संघर्ष ने उसे अपनी प्रबल गौ पूर्ण स्थिति में अवश्य नहीं रहने दिया है, तथापि वह और पूर्ण सजीव है, और सारे देश में व्यापक रूप में वि मान है।

इसका मूल कारण यही है कि उसकी अपनी सभी वि तायें उसमें मौजूद हैं। जिससे वह अपनी पूर्णरूप से रक्षा सका, यह उसकी शाश्वतता का ज्वलन्त प्रमाण है। अत निराशा का कोई स्थान नहीं है। उसका भविष्य आशा और उज्ज्वल है। आवश्यकता इस बात की है कि उसके अ यायी उसकी प्रमुख विशेषताओं को जैसी की तैसी ब रक्खें। और न सही, उसकी कम-से-कम उपर्युक्त विशे अर्थात् अबाधकता को यदि अक्षुण्ण बनाये रखेंगे, तो वे कि भी संघर्ष के बीच से पहले ही की तरह उसे साफ निकाल जायँगे।

—०:०—

शाक्तधर्म का निरूपण

वीर की उपासना

शाक्त की उपासना वीर की उपासना है और वह कायर के लिए नहीं है। खूँटे से पशु बँधा रह कर उसके आस-पास चक्कर लगाता रहता है। परन्तु जो साधक उस खूँटे को उखाड़ कर अपनी राह लगता है, वही वीर कहलाता है। यही शाक्त का आदर्श है। उसके लिए विधि-निषेध की बातें नहीं हैं।

सदाशिव ने उसके लिए जो उन्मुक्त मार्ग निर्दिष्ट कर दिया है, वही उसको श्रेय है। और वह मार्ग और कुछ नहीं है, केवल मां को रिझाये रहना है। रोकर, गाकर, जैसे भी हो, उसकी प्यारी गोद प्राप्त हो, इसी का प्रयत्न। और कुछ नहीं। इसके लिए न व्रत की जरूरत है, न उपवास की, न योग की, न यज्ञ की। बस, उसके चरणों के चिन्तन मात्र की आवश्यकता है। गुरूपदिष्ट मार्ग पर अविचल भाव से चलते रहने से वह चिन्तन भी अपने आप ही सुलभ हो जाता है।

आश्चर्य है, ऐसे स्वाभाविक मार्ग से कितने ही सुपुत्र चौंकते और झिझकते हैं। कहते हैं, हम पिता-भक्त हैं। सयाने हो जाने से क्या कोई माँ का बाप हो जाता है? वह तो सभी अवस्थाओं में उसकी भी दृष्टि में और अन्यों की भी दृष्टि में उसका बच्चा ही रहेगा। तब यह सङ्कोच झूठा अभिमान नहीं तो फिर क्या है?

पुरुषत्व का यह अर्थ नहीं है कि वह माँ को भूल जा
इस रहस्य को शाक्त-साधक ही भले प्रकार समझता है औ
इसी ज्ञान के बल पर वह आज विपरीत काल में भी माँ
सेवा से विमुख नहीं है । वह अपने आदर्श को दृढ़ता
ग्रहण किये हुए है और यह उसके लिए वास्तव में गौरव
बात है ।

\+ \+ \+ \+

वैज्ञानिक साधना-क्रम

भिन्न-भिन्न इष्ट-देवताओं की उपासना का विधान है
ए भी शाक्त-धर्म में 'परमेश्वर' का अपना अलग स्व
स्थान है । प्रत्येक शाक्त साधक को अपने इष्ट-देवता की आ
धना के साथ-साथ परमेश्वर की भी पूजा करनी पड़ती
अन्य धर्मों के मुकाबिले शाक्त-धर्म की यह सबसे बड़ी वि
षता है ।

शाक्त-साधक ही परमेश्वर की पूजा करते हैं औ
उसके एक ऐसे रूप की कल्पना करके उसकी पूजा करते
जो ध्यानगम्य है । शाक्त-धर्म का यह परमात्म-तत्व उसका प्र
तत्व है ।

वैष्णव, शैव आदि किसकी पूजा करते हैं ? विष्णु,
आदि की ही न ! और ये परमेश्वर नहीं हैं, किन्तु उ
अंश विशेष हैं । शाक्त-साधक भी काली, तारा आदि अपनी
देवी की पूजा करते हैं । पर वे परमेश्वर को परमेश्वर
काली को काली मानते हैं । अन्य धर्मों में परमेश्वर की
तो उपेक्षा की गई है, या इष्टदेवता ही परमेश्वर मान लि
जाता है ।

परमात्मा की प्रत्यक्ष पूजा केवल शाक्त-साधक ही करता है । वे अपने इष्टदेवता के भक्ति भाव में उसे भूले नहीं रहते । शाक्त-साधकों की साधना आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक है । वह इन तीनों धाराओं में एक साथ ही प्रवाहित होती है । 'वह मैं हूँ'—यह भावना आध्यात्मिक हुई । स्वय देवता बनकर देवता की अपने ही पिण्ड में भावना द्वारा पूजा करना आधिदैविक भाव हुआ और यन्त्र-विग्रह आदि में इष्ट-देवता का षोडशोपचार से पूजन करना आधिभौतिक कल्पना हुई ।

शाक्तधर्म में दीक्षा लेकर साधक अपने इष्टदेवता के मन्त्र की साधना मन को विशुद्ध रखकर ध्यानपूर्वक करता है । शाक्तधर्म में इसी सिद्धान्त का गुरु, मन्त्र, मन, इष्ट और ध्यान इन पाँच तत्वों के रूप में निरूपण किया गया है । इन पाँच तत्वों को दृष्टि में रखकर यदि विचार किया जाय, तो ज्ञात होगा कि हिन्दू-सम्प्रदायों पर शाक्तधर्म की कैसी अमिट छाप लगी हुई है ।

उक्त पाँचों तत्वों का वैज्ञानिक निरूपण सबसे पहले शाक्त-धर्मग्रन्थों में ही हुआ है । बौद्धधर्म से लेकर आधुनिक राधास्वामी मत तक पर शाक्तधर्म का केवल प्रभाव ही नहीं दिखाई देता है किन्तु प्रायः सभी प्राचीन तथा नवीन धर्म ग्रन्थों में उसका किसी न किसी रूप में अवश्य उल्लेख हुआ है । शाक्तों के 'भैरवी चक्र' का अनुकरण बौद्धों ने 'धर्मचक्र' के रूप में और जैनियों ने 'महाचक्र' के रूप में किया है ।

\+ \+ \+

पञ्च-शुद्धियाँ

शाक्त-धर्म में साधक इष्टदेवता की उपासना में 'पञ्च-शुद्धि' का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं। शास्त्र का आदेश भी है कि—

आत्म-स्थानं मन्त्र-द्रव्ये देव-शुद्धिस्तु पञ्चमी।
यावन्न कुरुते देवि तस्य देवार्चनं कुतः॥

अर्थात् इष्ट-देवता की उपासना में पाँच शुद्धियाँ आवश्यक हैं—

१ आत्म-शुद्धि, २ स्थान-शुद्धि, ३ मन्त्र-शुद्धि, ४ द्रव्य-शुद्धि और ५ देवता-शुद्धि।

इन पाँचो शुद्धियों की प्रणाली से जो साधक अपने इष्ट की साधना करेगा, उसे अवश्य ही अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं। यह साधना प्रणाली एक वैज्ञानिक प्रणाली है और योगी लोग तो इसे 'लय-योग' ही कहेंगे।

साधक पहले पूजा-स्थान का शोधन करके अपनी आत्मा का शोधन करेगा। फिर वह अपने इष्ट-मन्त्र का शोधन करेगा। तब वह पूजा-द्रव्यों का शोधन करेगा। तदनन्तर वह इष्टदेवता का संस्कार कर उसे चैतन्य करेगा। इस प्रकार अपने को एवं अपने आस-पास के वातावरण को विशुद्ध बनाकर इष्ट-देवता की पूजा में वह निरत होगा। इस सारी क्रिया के करने के लिए कितनी तन्मयता की आवश्यकता है ? यह लय-योग न होगा, तो और फिर क्या होगा !

'स्थान-शुद्धि' से मतलब उस स्थान की शुद्धि से है जहाँ बैठकर साधक उपासना करता है। वह पहले 'दिग्बन्धन' करता है, तब आसन का पूजन कर उस पर आसीन होता है।

'आत्म-शुद्धि' भूत-शुद्धि एवं प्राणायाम के करने से होती है। इसके बाद षडङ्गादि तथा मातृकादि न्यास करे। इससे वह देव-स्वरूप होता है।

इसके बाद मातृका-वर्णों से मूलमन्त्र को ग्रथित करके इष्ट-'मन्त्र का शोधन' करे।

तदनन्तर यथाविधि प्रोक्षण एवं धेनुमुद्रादि से पूजा-'द्रव्यों का शोधन' करे।

फिर पीठ-स्थान में देवता का आवाहन करके धूप-दीपादि उपकरणों से मूलमन्त्र द्वारा 'देवता का विशोधन' कर पूजा-कार्य में संलग्न हो।

\+ + +

मद्य-मांसादि की प्रामाणिकता

मद्य, मांस आदि शाक्तधर्म की साधना के महत्वपूर्ण उपकरण हैं। ये पदार्थ देव तथा पितृ-कार्यों में वैदिक काल से ही हिन्दू-समाज में ग्रहीत रहे हैं। तब यदि वैदिक मार्ग के एक विशेष अङ्ग शाक्तधर्म में इनको स्थान दिया गया, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। मांस, मत्स्य आदि मेध्य हैं। अतएव ये सात्विक पदार्थ हैं। पाशविक विकारों के शान्त्यर्थ शाक्त-साधक इनका उपयोग अपनी साधना में करते हैं।

हिन्दू-शाक्त साधक स्त्री को 'शक्ति'-रूप में मानते हैं। कन्या रहते वे उसकी भिन्न-भिन्न देवियों के रूप में सोलह वर्ष के वय तक पूजा करते हैं, जब उसी का विवाह हो जाता है तब अपनी पत्नी की शक्ति के रूप में पूजा करते हैं। स्त्रियों

को शाक्तधर्म ने जो सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया है, वह संसार का कोई धर्म उन्हें आज तक न दे सका और हिन्दु शाक्तों का 'भैरवी चक्र' तो वह चक्र है, जिसमें मनुष्य मनुष्यता के पूर्ण रूप का दर्शन करता है और ब्राह्मण तथा चाण्डाल एवं गुरु तथा शिष्य समानता की भावना को वास्तव में चरितार्थ करते हैं।

जिस 'तन्त्रशास्त्र' में शाक्तधर्म का प्रतिपादन किया गया है वह ऐसा-वैसा नहीं है कि चुटकियाँ बजाकर उड़ा दिया जा सके। उसके वक्ता सदाशिव माने गए हैं और इसी कारण 'वेद' की भाँति वह भी 'श्रुति' की श्रेणी में है। उसके ग्रन्थों की भी बहुत अधिक संख्या है और उन सभी में योग और उपासना का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है वस्तुतः भारत की परम्परागत अध्यात्म-विद्या का विकसित रूप तन्त्रग्रन्थों में ही भले प्रकार बताया गया है। ऐसे ही महान् शास्त्र में शाक्तधर्म का प्रशंसा के साथ उल्लेख हुआ है। शाक्तधर्म के प्रधान उपकरण मद्य-मांसादि का विधान तन्त्रशास्त्र में तो है ही, वेदादि धर्मग्रन्थों में भी उनका पर्याप्त उल्लेख है। शुक्ल यजुर्वेद के अध्याय १९ में यह मन्त्र है—

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियं सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय शुक्रेण देव देवताः पिप्रिग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि।

अर्थात् हे सोमदेव! सुरा-द्वारा बलवान् तथा तेजवान् होकर अपनी निर्मल शक्ति से देवताओं को प्रसन्न करो, यज्ञकर्ता को रसवाला भोजन और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को शक्ति प्रदान करो।

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी 'अर्चन्त्यर्कं मदिरस्य पीतये' अर्थात् 'मदिरा पीकर सूर्य को पूजते हुए' कहा है।

निस्सन्देह, तन्त्रशास्त्र उपासना-विषय का एक महान् शास्त्र है। जगत् के मानव-समाज के कल्याण के लिए उसमें अधिकारी के भेदानुसार भाँति-भाँति के विधान किए गए हैं। इष्ट की साधना के बारे में जो विधियाँ तन्त्रशास्त्र में बताई गई हैं, वैसी अन्यत्र नहीं मिलतीं।

शाक्तधर्म में मद्य-मांस का ग्रहण पान और भोजन के रूप में नहीं है। चरणामृत-पान तो विन्दु-रूप है और देवता के प्रसाद में २-४ बताशे ही मिलते हैं, यह कौन नहीं जानता। धर्म को जब धर्म के रूप में देखा जाता है, तभी वस्तु-स्थिति समझ में आती है। शाक्त-साधकों के चक्रार्चन के दर्शन पाने से मद्य-मांसादि के उपयोग का रहस्य हृदयङ्गम हो जाता है और उनकी प्रामाणिकता का बोध भी हो जाता है।

सनातन शाक्त-धर्म

शाक्तधर्म सनातन धर्म है। इसका उपदेश महेश ने सृष्टि के प्रारम्भ में लोककल्याण के लिए किया था। निष्कल ब्रह्म ने सकल ब्रह्म का रूप धारण करके इस ब्रह्माण्ड का अपनी इच्छाशक्ति द्वारा उद्भव किया था। उसी की इच्छाशक्ति के परिणाम-स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति हुई। उनको अपने अपने कार्य में सक्षम रखने के लिए उसने ब्रह्मा को सर-स्वती की शक्ति, विष्णु को लक्ष्मी की शक्ति प्रदान की। महेश के लिए स्वयं सकल की शक्ति काली-रूप से स्थित हुई। सकल का पुरुष शक्ति के अभाव में अन्तर्धान हो गया। इसी त्रिमूर्ति ने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय के उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लिया। सकल ब्रह्म की इच्छा, क्रिया और ज्ञान की शक्तियाँ उसकी इन तीनों विभूतियों में समाविष्ट हो गईं।

फलतः सृष्टि की रचना होने पर उसके सुचारु रूप से सञ्चालन के लिए ब्रह्मा ने वेदों का प्रादुर्भाव किया। कालान्तर में जब वेद की पद्धति के अनुसार समाज का संचालन होने लगा, तब उसके नियमों की कठोरता का समाज ने अनुभव किया। ऐसे ही लोगों के परित्राण के लिए महेश ने अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा योग और तांत्रिक साधनाओं का उपदेश किया। एक समय शंकर अपने को अधिक प्रबुद्ध समझकर ऐसे भाव में आ गए कि उन्होंने अपनी अर्द्धाङ्गिनी काली-शक्ति को अपने लिए बंधन समझा। उस समय वे ध्यानस्थ एक

शिलाखण्ड पर अपनी अर्द्धाङ्गिनी काली के साथ समासीन थे। उक्त भाव के उठते ही वे एकाएक उठकर खड़े हो गए और एक ओर को चल दिए। काली ने कहा—कहाँ चले?

उत्तर मिला—जहाँ इच्छा होगी।

काली चुप हो रहीं। परन्तु महेश जिस दिशा की ओर बढ़े, उन्होंने उसी दिशा में एक भव्य देवी-मूर्ति को खड़े पाया। दशों दिशाओं में जाने पर जब उन्होंने दश देवियों के स्वरूपों का दर्शन किया, तब उन्हें वास्तविक प्रबोध हुआ। वे लौट पड़े और काली के पास आए। उन्होंने विनयपूर्वक कहा कि 'तुम्हारी लीला अपार है!'

काली कुछ नहीं बोलीं।

महेश की भ्रान्ति दूर हुई थी और उन्हें वास्तविक ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ था। अतएव उन दस स्वरूपों को उन्होंने दश महाविद्याएं कहकर संबोधित किया और उनकी मन्त्र-प्रक्रिया की साधना का अधिकारियों को उपदेश किया। वे ज्ञान की प्रतीक मानी गईं।

इस प्रकार महेश ने इन दस महाविद्याओं द्वारा अर्थात्
ज्ञान के इन दस प्रतीकों द्वारा अनूठे शाक्तधर्म को जन्म
दिया। अधिकारियों ने उसे ग्रहण कर उसके द्वारा अपने
कल्याण के मार्ग को प्रशस्त किया। बाद को जब काली शक्ति ने
प्रजापति दक्ष की कन्या बनकर सती के रूप में महेश का पाणि-
ग्रहण किया, तब इस सम्बन्ध के हो जाने पर प्रजापति दक्ष को
इस बात का ज्ञान हुआ कि महेश पृथक् रूप से योग और मन्त्र-
प्रक्रिया का प्रचार करते हैं। उनका रहन-सहन और उनका
आचार भी प्रजापति को रुचिकर नहीं जँचा। उन्होंने समझा

कि महेश के प्रचार-कार्य से वैदिक आचार-विचारों को व्याघात पहुँचेगा। भेंट होने पर प्रजापति होने के कारण उन्होंने महेश को बुरा-भला कहा। उन्होंने कहा कि 'तुम्हारा प्रचारित यह धर्म संसार में निन्दित होगा।'

यही नहीं, वे इतना रुष्ट भी हो गए कि अपने घर में एक यज्ञ करके उन्होंने महेश को उसमें आमन्त्रित नहीं किया और न यज्ञ में उनका भाग ही दिया। परन्तु यज्ञ होने की खबर पाकर पुत्री होने के नाते बिना आमन्त्रण पाए हठपूर्वक सती पिता के घर अपने आप ही जा पहुँचीं। उनका वहाँ कोई आदर नहीं हुआ और जब उन्होंने देखा कि उनके पति को यज्ञ का भाग भी नहीं दिया गया है, तब वे क्रोध से अभिभूत हो गईं और अपने आपको योगाग्नि में भस्म कर दिया। इस घटना की कथा पुराणों में लिखी हुई है।

इसी घटना के फल-स्वरूप उत्तर भारत के इक्यावन स्थानों में इक्यावन शक्ति-पीठ स्थापित हुए और शाक्त-धर्म का प्रचार बढ़ गया। वैदिक धर्म के साथ-साथ वह उसके पूरक धर्म के रूप में प्रचलित हो गया। बड़े बड़े ऋषियों-मुनियों राजाओं-महाराजाओं और साधारण जनों ने महेश द्वारा प्रचारित तान्त्रिक साधनाओं को ग्रहण कर अपना कल्याण किया। इन सबकी कथाओं से पुराण-ग्रन्थ ओत-प्रोत हैं।

सत्य, त्रेता और द्वापर तक ये दोनों ही धर्म सारे देश में लोक का संगठन और कल्याण करने में पूर्ण रूप से संलग्न रहे। द्वापर के बाद जब कलि का प्रवेश हुआ और महाराज पाण्डु के पौत्र महाराज जनमेजय ने जब नागयज्ञ का समारम्भ किया, तब एक विशेष स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर उन्हें यज्ञ को अधूरा ही छोड़ देना पड़ा। इस पर अग्निदेव कुपित हुए

और उन्होंने प्रकट होकर ब्राह्मणों को शाप दिया कि 'आज से तुम लोगों द्वारा किए गए सभी यज्ञादि कर्म निष्फल होंगे।'

अग्निदेव के शाप का प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे देश में धर्मग्लानि की स्थिति आ गई। यज्ञ-यागादि बन्द होने लगे। इस दुरवस्था को देखकर महेश की अर्द्धाङ्गिनी पार्वती जी ने उनसे आग्रह किया कि 'इस धर्मग्लानि में फँसे हुए लोगों के उद्धार का कोई मार्ग आप निश्चित करें।'

इस पर महेश ने तन्त्रधर्म का उपदेश किया। शंकर के उपदिष्ट तंत्र आगम कहलाए। पार्वती द्वारा उपदिष्ट तन्त्र निगम के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन दोनों के संवाद-रूप में जो अन्य तन्त्र उपदिष्ट हुए, वे यामल-डामर के नाम से प्रसिद्ध हुए। ऋषियों ने इनको सुनकर इन्हें ज्यों का त्यों लिपिबद्ध कर लिया।

शाक्त-धर्म इन्हीं चार श्रेणियों के तन्त्रग्रन्थों पर आधारित है। शाक्तधर्मानुयायी इन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार अपना यजन-भजन करते हैं। उस समय की चलाई हुई वह यजन-पद्धति आज तक ज्यों की त्यों देश में शाक्त-धर्मानुयायियों में प्रचलित है।

शाक्त लोग अपने उपर्युक्त धर्मग्रन्थों को वेदों के साथ साथ वेदवत् पूज्य मानते हैं। परन्तु इधर वर्तमान युग में यद्यपि तन्त्रों के सिद्धान्तों का भारत के अन्यान्य धर्मों, सम्प्रदायों और मतों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है और उनके सङ्गठित होने में उन्होंने समुचित बल प्रदान किया है तथापि यह खेद की बात है कि स्वयं उनकी साधना में शैथिल्य सा आ गया है। वह आज उतनी तेजपूर्ण नहीं दिखाई दे रही है। हतप्रभ-सी प्रतीत हो रही है। इसका क्या कारण है ? इस

पर विचार करना देश के प्रमुख शाक्तधर्माचार्यों का प्रधान कर्तव्य है।

हम जानते हैं कि समय-समय पर शाक्तधर्म के कुछ महात्माओं ने इस दिशा में भारी प्रयास किया था, परन्तु उसका परिणाम यही निकला कि उनका अपना एक अलग संप्रदाय अस्तित्व में आ गया। आगमोक्त अर्चना-पद्धति को वे अग्रसर नहीं कर सके। उसका उपदेश उन्होंने अवश्य किया, परंतु काट-छाँट कर। देश-काल के अनुसार काट-छाँट कर उन्होंने उसे नया ही रूप दे डाला। परिणाम हास्यास्पद ही हुआ। परन्तु निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

इस पवित्र पुण्यभूमि भारत में आगमोक्त शाक्त पूजा-विधान आज भी पहले की ही भाँति प्रचलित है। शाक्तों की छोटी-छोटी मण्डलियाँ सारे देश में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और आगमोक्त पद्धति का अपनी साधना में यथाशक्ति अनुसरण भी करती हैं। यहीं की 'यथाशक्ति' से विश्वास को कितना भारी धक्का पहुँचता है, यह वास्तव में एक विचार का विषय है। इसी ने शाक्त-समाज को निष्ठाहीन, प्रमादपूर्ण और अकमण्य बना दिया है। इस भयावह परिस्थिति का निराकरण करने के लिए शाक्तधर्माचार्य जितनी तत्परता के साथ सक्रिय होंगे, उतनी ही अधिक सफलता उन्हें अपने प्रयत्नों में मिल सकेगी।

जैसा कि ऊपर कह आए हैं, शाक्तधर्म महेश के कहे हुए आगम, निगम, यामल आदि पवित्रतम ग्रन्थों पर आधारित है। इन ग्रन्थों में शाक्तधर्म की साधना की अनेक प्रक्रियाएँ बताई गई हैं। इन प्रक्रियाओं में शाक्तधर्म की अर्चन की प्रक्रिया अपना विशेष महत्व रखती है। उसकी विशेषता यही नहीं है

कि उसकी साधना से साधक को परमानन्द की उपलब्धि हो जाती है किन्तु यह भी है कि आज भी वह सारे शाक्त-समाज में ज्यों की त्यों पहले की भाँति प्रचलित है।

इधर पिछले दिनों कुछ धर्माचार्यों ने देश, काल के अनुसार उसमें कुछ छाँट-काट कर उसे अधिक उपयोगी बनाकर उसका नए ढंग से प्रचार भी किया है। परन्तु इतने पर भी वह पुरानी प्रक्रिया आज भी सारे भारत में शाक्त साधकों में प्रचलित पाई जाती है। यही नहीं, शाक्त साधक उसके प्रति अपने पूर्वजों की भाँति अटल विश्वास रखते हैं। विश्वास ही नहीं रखते हैं, किन्तु अपनी शक्ति भर उसको कार्य का रूप देकर आनन्द की उपलब्धि भी करते रहते हैं। वे उस प्रक्रिया का अक्षर-अक्षर पालन करने का यत्न करते हैं। उसमें किसी प्रकार का हेर-फेर करना अधर्म और पाप समझते हैं। उनका यह अचल विश्वास है कि आगमादि के ग्रन्थ महेश ने कहे हैं। अतएव उनमें बताई हुई उक्त अर्चन-क्रिया उनके लिए ईश्वरीय आदेश ही है। फलतः उसका उल्लंघन करना उनकी दृष्टि में महापाप नहीं तो और क्या है !

परन्तु वर्तमान समय की धर्मग्लानि का शाक्तधर्म पर भी प्रभाव पड़ा है। यह सत्य है कि शाक्त लोग भी इतर जनों की भाँति अपने कर्तव्यों का पालन यथाविधि करते रहते हैं। परन्तु इसी प्रकार वे उन्हीं की तरह ईश्वराराधन भी करते हैं। परन्तु उनके लिए इतना ही अलं नहीं है।

इस समय शाक्तधर्म ही भारत का प्रमुख धर्म है। अन्य धर्मों, संप्रदायों तथा मतों पर उसी का व्यापक प्रभाव है। ऐसी स्थिति में उसके अपने संगठन में तो कुछ विशिष्ट चेतना होनी चाहिए। उसमें अधिक सजगता तथा सजीवता दिखाई

पड़नी चाहिए। यह तभी संभव होगा, जब शाक्त साधक आलस्य और प्रमाद को छोड़कर विधिपूर्वक अपनी साधना में संलग्न होंगे। कहाँ कौन कैसी साधना करता है, इसका पता लगना तो अत्यंत कठिन है, परन्तु शाक्तों के सामूहिक अर्चनों में जो दृश्य देखने को मिलता है, वह शाक्तधर्म जैसे देश के प्रधान धर्म का गौरववर्द्धक नहीं माना जायगा। और बातों की चर्चा न करके यहाँ इसका उल्लेख करना आवश्यक है कि उन अर्चनों में सम्मिलित होनेवाले अधिकांश ऐसे ही व्यक्ति होते हैं, जिनमें धर्म के प्रति अटूट और अचल विश्वास तथा श्रद्धा तो पूर्ण रूप से दिखाई देती है। परन्तु वे अर्चना की प्रक्रिया के ज्ञान से सर्वथा शून्य ही होते हैं और यह वास्तव में बहुत ही अवांच्छनीय और अहितकर बात है। इस महती त्रुटि को दूर करना शाक्तधर्माचार्यों का प्रमुख कर्तव्य है। इस त्रुटि के दूर होने पर ही शाक्तधर्म के वास्तविक सनातन स्वरूप के दर्शन हो सकेंगे और तभी विश्व का अपेक्षित कल्याण साधन हो सकेगा।

शाक्त धर्म में दश महाविद्याओं की उपासना की प्रधानता है। दस महाविद्यायें ज्ञान की प्रतीक हैं। इनके स्थूल स्वरूपों के नाम काली, तारा, त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, छिन्नमस्ता, बगला, मातंगी और कमलात्मिका हैं। इनका अर्चन विधान भी अपनी विशेषता रखता है। यह विधान तंत्र की पंचशुद्धियों के सिद्धान्त पर आधारित है—१ स्थानशुद्धि, २ देहशुद्धि, ३ द्रव्यशुद्धि, ४ देवशुद्धि और ५ मन्त्रशुद्धि। इन्हीं पंचशुद्धियों को आधार मानकर इस अर्चन-विधान का विस्तार किया गया है। जो व्यक्ति शाक्त साधना की दीक्षा ग्रहण करता है, उसको अपने इष्ट का यजन-पूजन इसी

अर्चन-विधान के अनुसार करना पड़ता है। तन्त्रों में अर्चन की अनेक विधियाँ बताई गई हैं परन्तु इन सबसे यह पञ्च-शुद्धयात्मक अर्चन अपना विशेष महत्व रखता है। महाराज जनमेजय के बाद जब महेश्वर ने आगमादि का प्रादुर्भाव किया तब से यह पंचशुद्धयात्मक अर्चन-क्रम भारत की इस पवित्र भूमि में आज तक अपने अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है। शाक्त-साधक उसमें किसी प्रकार का हेर-फेर करने का दुस्साहस कभी नहीं करते और यथा सम्भव यथाशक्ति इसी अर्चन-विधान के अनुसार अपने इष्ट का यजन-पूजन करते रहते हैं।

यह सत्य है कि समय-समय पर कुछ शाक्त-धर्माचार्यों ने देश-काल को देखकर लोककल्याण की भावना से उसमें कुछ हेर-फेर करके जगदम्बा के अर्चन करने का उपदेश किया है और उन्हें अपने इस प्रयत्न में पर्याप्त सफलता भी मिली है। वे यशस्वी भी हुये हैं। परन्तु नैष्ठिक शाक्त साधकों पर उनके श्लाघ्य प्रयत्न का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। वे अपने पूर्वजों की भाँति ही उक्त विशिष्ट पंच-शुद्धयात्मक अर्चन-विधान को ज्यों का त्यों आज भी अपनाये हुये हैं। उनका धर्म पर सदैव ऐसा ही अटल और अचल विश्वास रहा है। तभी तो उक्त अर्चन-प्रणाली भारत की इस धर्म-भूमि के चारों कोनों में व्यापक रूप से विद्यमान है।

ऐसा कहना कोई दुस्साहस की बात नहीं है कि वर्तमान हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय तथा मत-मतान्तर उक्त अर्चन-विधान को लेकर उसमें अपनी रुचि तथा विचार के अनुसार परिवर्तन कर उसको अपनी धार्मिक भावना का प्रधान आधार बनाकर अपने इष्टों का यजन-पूजन करते रहते हैं।

इस अर्चन-विधान की ऐसी ही विशिष्टता है; परन्तु बड़े दुःख की बात है कि इस भारत की धर्मप्राण भूमि में इस समय भयानक धर्मग्लानि का प्रादुर्भाव हुआ है। धर्म के उत्थान के लिये जितने भी प्रयत्न किये जाते हैं, सभी विफल हो जाते हैं। और तो और जिन शाक्तों का विश्वास ही एकमात्र धन रहा है, वे तक इस भयानक परिस्थिति के प्रभाव में आने से न बच सके। उनमें इस समय आलस्य, प्रमाद और लोलुपता का आधिक्य ही दिखाई दे रहा है। इस परिस्थिति के सुधारने का समय-समय पर प्रयत्न अवश्य किया गया। परन्तु वह भी कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सका।

इस समय शाक्तों में उपर्युक्त प्रकार का पूजन वर्ष में केवल नवरात्रि के पर्वों पर दो बार होता देखा जाता है। शास्त्र में तो यह नित्यार्चन कहा गया है। निस्सन्देह उसमें यह छूट भी दी गई है कि यदि नित्य न कर सके, तो पर्वों पर करे और यदि पर्वों में भी न कर सके, तो नवरात्रि में अवश्य करे। इस छूट का दुरुपयोग ही होता दिखाई दे रहा है। यही नहीं, इसके सामूहिक पूजनों में सम्मिलित होनेवालों ने देखा होगा कि उपस्थित व्यक्तियों में कितने शाक्त साधक ऐसे हैं, जो साधक कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। उनमें से अधिकांश को तो यह भी नहीं ज्ञान होगा कि जो कुछ वहाँ यजन-पूजन हो रहा है, वह सब क्या है ? हाँ, जब आचार्य महोदय उल्लास में आकर आनन्द-स्तवन करने लगते हैं और 'गुरुचरण-रतोऽहम् भैरवोऽहम् शिवोऽहम्,' 'श्रीसुन्दरी-तर्पण-तत्पराणाम् भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव' जैसी आनन्द-उद्रेक-कारिणी सूक्तियाँ कह बैठते हैं, तब वहाँ उपस्थित अज्ञ से अज्ञ शाक्त साधक के हृदय में एक अलौकिक आनन्द का प्रादुर्भाव हो जाता है और यही

वह अनुभूति है, जिससे शाक्तों का दृढ़ विश्वास उन्हें अपने धर्म के राजमार्ग पर बराबर अग्रसर होते रहने के लिये सदैव उत्साहित करता रहता है।

उक्त विशिष्ट पंचशुद्ध्यात्मक पूजन (अर्चन-विधान) की यही विशेषता है। बात यह है कि इस अर्चन-विधान में गुरुदेव साधक को उपनीत कर उसे देव-कक्ष में स्थापित करने का सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। गुरुदेव से उपदिष्ट होकर साधक देवभाव में भरकर अपने अर्चन-क्रम में अग्रसर होता है। वह भले प्रकार स्नानादि कर शुद्ध होकर अत्यन्त विशुद्ध पूजा-गृह में प्रवेश कर मन्त्रों द्वारा उस विशुद्ध पूजन-स्थान का शोधन करता है। फिर आसन पर आसीन होकर प्राणायाम तथा भूतशुद्धि की क्रिया से अपने शरीर का शोधन करता है। फिर अपने विशुद्ध शरीर में वह इष्टदेवता की प्रतिष्ठा कर नाना प्रकार के न्यासों से अपने सारे शरीर को देवभाव से अभिभूत कर इष्टदेवता का अन्तर्यजन करता है। इसके बाद देवता को बाहर लाकर उसका पूजन करने के लिये द्रव्यों का मन्त्रों द्वारा शोधन कर तथा पूजन के पात्र स्थापित कर एक बार फिर वह अपने शरीर के तत्वों का शोधन करता है। तदनन्तर वह एक विशेष क्रिया के द्वारा अपने सम्मुख स्थापित यन्त्रराज में देवता का आवाहन कर उसका मन्त्रों द्वारा संस्कार कर उसका विशोधन करता है। इसके बाद षोडशोपचारों से पूजन कर तथा उसकी अनुमति से उसके अंगों का भी यथा विधि पूजन-तर्पण कर चुकने पर वह वेदी बनाकर देवता का अग्नि के रूप में पूजन कर और उसे पशुबलि की भेंट कर उसे पूर्ण रूप से संतुष्ट करता है। इसके बाद बलि-देवताओं को पंचबलि देकर देवता की आरती कर पुष्पाञ्जलि

दान करता है। फिर वह इष्टमन्त्र का शोधन कर उसका जप कर कवच-स्तोत्रादि का पाठ करता है। तदनन्तर आत्म-समर्पण कर देवता का विसर्जन कर उसे पुनः अपने हृदय में स्थापित कर लेता है। इस प्रकार देव-भाव में भर कर वह एक अद्भुत प्रकार के आनन्द की उपलब्धि करता है।

परन्तु आज शाक्तों में ऐसे कितने साधक हैं, जो इस भावमयी पूजा का रहस्य जानते हैं। हमारे आलस्य और प्रमाद ने हमें ले जाकर कहाँ डाल दिया है, इसकी ओर हममें से कितनों का ध्यान जाता है ? वास्तव में शाक्तों की आज ऐसी ही दयनीय दुर्दशा है ! इसको दूर करने के लिये देश के विभिन्न भागों में विशिष्ट शाक्त-धर्माचार्यों द्वारा अनुकरणीय प्रयास हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि निःस्पृह भाव से इस घोर कलि-काल में विशुद्ध सनातन शाक्तधर्म का प्रचार जगज्जननी की अपनी विभूतियों द्वारा ही सम्भव है।

साधना में सिद्धि

हिन्दू जाति साधकों की जाति रही है। वैदिक आचार और विचार की समीक्षा करने से इस तथ्य का समर्थन हो जाता है। आज वैदिक साधना का देश में सर्वथा अभाव हो गया है तथापि उसका साहित्य विद्यमान है। उसका अध्ययन करने से इस बात का पूरा ज्ञान हो जाता है कि हमारे पूर्व-पुरुषों ने मानव जीवन का ध्येय कितने उच्च आदर्श पर स्थिर किया था तथा उसकी उपलब्धि के लिये उन्होंने कैसे सुन्दर विधान निर्धारित किये थे। परन्तु वह सब अब पोथी की बातें मात्र रह गई हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही भारतीय हिंदुओं के जीवन का ध्येय था। इसी की सिद्धि के लिये चार वर्ण और आश्रम स्थापित किये गये थे और प्रत्येक के लिये नियम और कर्तव्य भी निश्चित थे। उन सबको जब आज हम अपने सद्ग्रन्थों में पढ़ते हैं, तब हम देखते हैं कि उनके विधायकों की कितनी वैज्ञानिक बुद्धि थी तथा वे ज्ञान की चरम सीमा तक कितना अधिक पहुँच चुके थे। ऐसी ही उच्च कोटि की वैदिक साधना का आज उन्हीं के वंशजों के द्वारा उपहास किया जाता देखकर किसे दुःख न होगा ?

यहाँ यह भी एक बड़े मजे की बात यह है कि हमारे उन पूर्व-पुरुषों को इस बात का पूरा पता था कि एक दिन ऐसा आवेगा, जब इस परम पुनीत भारतवर्ष में उनके वैदिक धर्म की कहीं पूछ नहीं होगी। और उसके स्थान में नये नये धर्म चलकर

वैदिक धर्म का तथा उनका भी पूर्णतया तिरस्कार होगा। यही समझकर उन्होंने लोक-हितेच्छा की भावना से देशकालानुसार एक नये धर्म का संस्करण किया था, जो लोक का कल्याण वैदिक धर्म की ही तरह कर सके।

यह धर्म आज देश में तन्त्र-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी साधना-प्रणाली वैदिक धर्म जैसी न तो कठोर है, न उतनी व्यापक ही है। इसका अनुयायी बहुत ही सुगम रीति से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उपलब्धि कर सकता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि इसमें विधि-विधान का अभाव हो। विधि है और विधान भी है परन्तु दुःसाध्य नहीं है, देश-काल के सर्वथा अनुरूप है। और यह धर्म हिन्दू-समाज के आचार-विचार में व्याप्त भी दिखाई दे रहा है। या यही बात इस तरह कहें कि आज का हिन्दूधर्म तन्त्रमूलक धर्म है। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उसका-विधान ज्यों-का-त्यों नहीं रहा। ऐसा क्यों हुआ, यह स्पष्ट है।

नाना प्रकार के धर्माचार्यों ने शास्त्र-निर्दिष्ट विधि-विधानों में स्वेच्छानुसार हेर-फेर करके तन्त्रधर्म में भी बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया, जिसका भीषण परिणाम यह हुआ कि आज उसकी भी साधना निष्फल सी दिखाई दे रही है। जैसे अन्य सम्प्रदाय या मत-मतान्तरों के साधक साधना करते हुये भी अपनी-अपनी साधनाओं में कोई सफलता प्राप्त करते नहीं दिखाई देते, वही हाल तान्त्रिक साधकों का भी है। बात यह है कि मनुष्य ने ईश्वरादेशों पर हरताल फेरकर उन्हें मनुष्यादेश के रूप में परिवर्तित कर लिया है। ऐसी दशा में जो वस्तु किसी समय अमोघ और अव्यर्थ थी, वही यदि मनुष्य की

कृति के रूप में कभी सफल और कभी असफल होती दिखाई दे, तो इसमें आश्चर्य क्या ? मनुष्य का 'अहं' जब सांसारिक कार्यों में प्रायः विफल ही होता दिखाई देता है, तब अध्यात्म के क्षेत्र में वह सर्वथा निष्फल ही सिद्ध होगा। कहने का मतलब यह है कि मनुष्य को मनुष्य ही रहना चाहिए और ईश्वरीय आदेशों को उनके वास्तव रूप में ही उसे ग्रहण करना चाहिए। तभी वह ऊँचा उठ सकेगा। अन्यथा 'अहं' का फल उसे भोगना ही पड़ेगा।

वही स्थिति आज हमारी है। 'अहं' ने हमें गिरा दिया है। आज इस साधकों के देश में सभी 'अहं' भाव के शिकार हो रहे हैं। कोई भी ब्रह्मपद के नीचे अपने को नहीं समझता। क्या मूर्ख, क्या विद्वान् सभी अपने को साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप समझ रहे हैं, यद्यपि वे अपनी दृष्टि के भीतर की वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान भी नहीं रखते—अन्तर के रहस्यों का जानना तो दूर की बात है।

इस दुरवस्था का मूल कारण यही है कि आज हम सचमुच साधक नहीं रहे। हममें साधना के रहस्य का ज्ञान नहीं रहा, केवल भ्रान्त विचारों के अनुयायी मात्र हो रहे हैं। और समझते हैं कि हम ज्ञानमार्ग के पथिक हैं। न हममें आस्तिक बुद्धि रह गई है और न अपने सच्छास्त्रों पर श्रद्धा ही है। यत्किंचित पुस्तकीय ज्ञान के बल-बूते पर ब्रह्मवादी बनकर अपने को और संसार को ठगते रहते हैं।

साधना-प्रधान पुण्यमय देश के निवासियों का यह कैसा अधःपतन हो रहा है !

तान्त्रिक साधकों का जिन्होंने सत्सङ्ग किया है, वे जानते हैं कि उनमें दम्भ के सिवा और कुछ नहीं है। न तपस्या है,

न तन्त्रग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान ही है। बस, आडम्बर मात्र ही उनके पास होता है। वे समझते हैं कि तान्त्रिक दीक्षा मात्र लेने से सिद्धि उनके पैरों पर आकर लोटने लगती है। जो तान्त्रिक नहीं हैं, वे भी इनकी बातें सुनकर यही समझते हैं कि तान्त्रिक दीक्षा ली नहीं कि बात-की-बात में सिद्ध हुये। परन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है। तान्त्रिक साधना करने में सारा जीवन भी व्यतीत हो जाता है और सिद्धि नहीं मिलती।

सिद्धि साधारण वस्तु नहीं है। वह एक महान् दुर्लभ पदार्थ है। उसकी प्राप्ति के लिये पशुबलि तो करनी ही पड़ती है, आत्मबलि भी करनी पड़ती है। परन्तु यह जानते हुये भी आज के तान्त्रिक साधक इसकी सोलहो आने उपेक्षा करते हैं। इस देश में चण्डी-भक्तों की कमी नहीं है। उसका पाठ इस देश के प्रायः सभी घरों में होता रहता है। परन्तु उसकी ओर कितने ध्यान देते हैं ? उसके तेरहवें अध्याय में सुरथ और समाधि की तपस्या का वर्णन है। सुरथ और समाधि ने नदी के तट पर मिट्टी की चण्डी की मूर्ति बनाकर तीन वर्ष तक उनकी आराधना की थी। चण्डी में लिखा है—

मिट्टी की प्रतिमा देवी की, रचकर तट पर अति सुन्दर,
पुष्प, धूप औ होम आदि से, पूजा की निज मन देकर।
निराहार रह मिताहार रह, चित्त लगाकर भले प्रकार,
रक्त देह का दिया उन्होंने, देवी को बलि का उपहार।
तीन वर्ष संयत-मन रहकर, की पूजा जब भले प्रकार,
हो परितुष्ट प्रकट हो बोली, शीघ्र चण्डिका परम उदार ॥

—दुर्गा सप्तशती (पद्यानुवाद) अ० १३—८,६,१०

ये श्लोक चण्डी के सभी पाठ करनेवाले जानते हैं, परन्तु इनके महत्व की ओर कौन ध्यान देता है ? यहाँ तो दस ही दिन नियमपूर्वक इष्टमन्त्र का जप करने पर साधक की नसें ढीली पड़ जाती हैं, परन्तु आशा करते हैं कि शीघ्र ही देवता प्रकट होकर उन्हें उसी प्रकार वर दे जाय; जैसे सुरथ और समाधि को चण्डिका ने प्रकट होकर दिया था। न महीना, न चार महीना—दस ही पन्द्रह दिन में जब लोग सिद्ध हो जाना चाहते हैं तब उन्हें यदि अपने प्रयत्न में सफलता न मिले, तो इसमें आश्चर्य क्या है ? और यदि वे तान्त्रिक साधना की निन्दा करते दिखाई दें, तो इसमें भी क्या आश्चर्य ?

बात यह है कि तान्त्रिक साधना कोई अनर्गल साधना नहीं है। शास्त्र में उसकी साधना के ठीक-ठीक नियम बताये गये हैं। किस तरह दीक्षा लेकर, किस स्थान में, किस समय पर, किस तरह जीवन-यापन करते हुये, कितने दिन तक साधना करनी चाहिये—इसकी स्पष्ट शब्दों में विधि बताई गई है। यदि पहले प्रयत्न में सिद्धि न मिले, पूर्ववत् बार-बार प्रयत्न करना चाहिये। यदि इतने पर भी सफलता न मिले, तो भी निराश नहीं होना चाहिये। गुरु के पास जाकर पुनः उनसे आदेश लेकर सिद्धि के प्रयत्न में संलग्न होना चाहिये। इस तरह कहीं वर्षों तक परिश्रम करने पर सिद्धि मिलती है। परन्तु आज के मानव में इतना धैर्य कहाँ ? धैर्य भी हो, तो इतनी सुविधा कहाँ ? फिर बाल-बच्चों, सुख-भोग आदि का मोह अलग प्रतिक्षण उसे चिन्ता-ग्रस्त किये रहता है। कौन शास्त्र के विधि-विधानों के चक्कर में पड़े ? और सो भी उस दशा में, जब उसे अपने आस-पास अनायास ही सिद्धि दिलाने-वाले महात्मा पुरुष घूमते दिखाई दे रहे हों !

ऐसी स्थिति में सत्य की कौन कदर करे ? और जहाँ सत्य नहीं, वहाँ सिद्धि कहाँ ? परन्तु सिद्धि की चाह सबको है। सभी उसी के फेर में रहते हैं, परन्तु सत्य का पालन करने को तैयार नहीं हैं। वे इतने आत्मनिर्बल हैं कि सिद्धि की चाह में मानव को ही ईश्वर मानने को आज तैयार हैं। तैयार ही नहीं, ये दुर्बल-चित्त सर्वत्र मानव को ईश्वर मानकर उसकी पूजा-सेवा में इसलिये निरत दिखाई दे रहे हैं कि वह उन्हें सिद्ध बना दे—न सिद्ध बना दे, तो कम-से-कम उन्हें आधि-व्याधियों से मुक्त रखे ! इस प्रकार जहाँ देखो, वहाँ मानव-पूजा का बोलबाला है। न कोई ईश्वर को पूछता है, न कोई सच्छास्त्र निर्दिष्ट सत्साधनाओं को ही मानने को तैयार है और ये हमारे मानवरूपी ईश्वर भी बड़े तपाक के साथ अपने भक्तों की रक्षा का आश्वासन देते दिखाई दे रहे हैं। इसमें दोष है उनका, जिन्होंने सत्यमार्ग का त्याग किया है, ईश्वर को भुला दिया है और उपेक्षा कर दी है अपने उन सच्छास्त्रों की, जो युगों से इस पुण्यभूमि के निवासियों के पथ-प्रदर्शक रहे हैं। अतएव भ्रान्तों को सावधान होकर अपनी भूल को समझना चाहिये और यदि वे अपना कल्याण चाहते हैं, तो शीघ्र-से-शीघ्र उन्हें अपने पूर्वजों की राह पर आ जाना चाहिये। अभी समय है। अभी बहुत नहीं बिगड़ा है। उनके शास्त्र, उनका धर्म आज भी विद्यमान है। वर्तमान अधःपतन से बचने का एक ही उपाय है—

''स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।''

अर्थात् 'कुलधर्म का सेवन करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो अधःपतन अनिवार्य है।' करोगे, तो सिद्धि निश्चित है।

शाक्तधर्म की मूल भावना

शाक्त-धर्म के प्रति अन्य लोगों का विचार यह है कि शाक्त-धर्म केवल सांसारिक अथवा ऐहिक भोगैश्वर्य एवं प्रयोगादिकों के लिये ही है। यदि यह बात सत्य हो, तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि उनकी धारणा सर्वथा निर्मूल है। तन्त्रों के अनुशीलन मात्र से विदित होगा कि यह उत्कृष्ट धर्म (सर्वधर्मोत्तम धर्म शिवोदित) मनुष्य ही नहीं बनाता, वरन् देवता-भाव में पूर्णतया स्थित करता है; मानव सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर उसकी स्थिति वास्तविक रूप से अटल करता है। जो शाक्त प्रातःस्मरण में ही कार्यों का समर्पण निम्न प्रकार से करता है—

'प्रातरुत्थाय सायान्तं प्रातरेव च यत्करोमि जगद्योने तदस्तु तव पूजनम्'—

वह क्या कभी अनुचित कर्मों का आसरा लेगा ? या द्वेषमय प्रयोगों का अवलम्बन करेगा ? जो प्रातःस्मरण में अपने स्वरूप की व्याख्या निम्नांकित श्लोक से कर अपने चित्त को प्रबोध देता है—

नाहं मनुष्यो न च देव-यक्षो, न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही न वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निज बोधरूपं॥

इस प्रकार की आत्म-भावनावाला साधक क्या कभी गर्हित कार्यों को कर सकता है ? प्रातःस्मरण के अन्त में अधिकारी साधक निम्न श्लोक को पढ़ते हैं—

अहं देवी न चान्योऽस्मि, ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्द - स्वरूपोऽस्मि, नित्ययुक्त-स्वभाववान्॥

उपर्युक्त भावना साधक को सर्वभूत ब्रह्म के साथ अपनी एकता कराती है। फिर वह किसका बुरा चाहे !

पूर्णाभिषेकी साधक तीनों मुख्य सम्प्रदायों में, अर्थात् काश्मीर, केरल, गौड़ में केवल क्रमशः निम्नांकित सङ्कल्पों के सिवाय और सङ्कल्प करने के अधिकारी तक नहीं हैं—

१—देवताप्रसन्नार्थ, २—देवताप्रीत्यर्थे, ३—प्रत्यक्षदर्शनार्थे

ये बातें सभी विज्ञ और अधिकारी साधक जानते हैं। फिर कौन अज्ञानी इस बात के कहने का साहस कर सकता है कि शाक्त-साधन केवल सांसारिक भोग तथा प्रयोग के लिये है। हाँ, 'शापादपि शरादपि'—गीता में स्वयं भगवान् आततायी का वध करने के लिये कहते हैं। इसलिये जरूर शाक्त शास्त्रों में प्रयोगों का वर्णन है, किन्तु साथ ही यह भी लिखा गया है—

'प्रयोग-कर्तृणां परलोकं न विद्यते।'

तथा सभी शाक्त शास्त्रों में प्रयोगों को करने की पूर्ण रूप से निन्दा की है। वे केवल अत्याचारी के दमन के लिये तथा परोपकार करने के लिये हैं। शाक्त-धर्म शिशु की तरह पूर्ण रूप से मातृअङ्क में निभर रहने की शिक्षा देता है। अठारहभुजा, सहस्रभुजावाली परातिपरा भट्टारिका साकाररूपिणी जगदम्बा से रक्षित शाक्त शिशु का अमङ्गल ही कौन कर सकता है। वह किसके लिये प्रयोग करे और किसलिए काम्य कर्म करे। हाँ, जिसे अपनी भारी पड़ी है, वह उससे भिड़े और अपना सर्वनाश करे।

ये त्वां स्मरन्ति देवेशि, रक्षसे तान् न संशयः।

* * * *